को भारतवर्ष के अधःपतन का कारण बतलाता है तो कोई "ईश्वर कर्तृत्व न मानने से" नास्तिक कहते हैं तो कोई कर्म प्रधानी मानकर पुरुषार्थहीन बतलाते हैं. इसही प्रकार के अनेक आक्षेप हुआ करते हैं इन आक्षेपों को दूर करने के लिये तथा जैन समाज में प्रत्येक स्त्री पुरुष को निज धर्म के सिद्धांतों का उत्तम ज्ञान कराने के लिये तथा संसार के अन्य विविध देशों के विशेषकर भारतवर्ष के जैनेतर जनसमुदाय में जैन धर्म के सिद्धांतों का प्रचार करने के लिये परम आवश्यक है कि जैन धर्म के ग्रन्थों का अनुवाद वर्त्तमान काल की विविध भाषाओं में विशेषकर भारतीय भाषाओं में प्रकाशित किया जावे और उन ग्रन्थों का खूब ही मुफ्त वा अल्प मूल्य पर प्रचार किया जावे.

उपरोक्त उद्देश्य के अनुसार ही कर्मग्रन्थ के प्रथम भाग का हिन्दी भाषान्तर इस पुस्तक में पाठकवर्ग की सेवा में उपस्थित किया है।

यदि हमारे भ्राता विशेष कर नवयुवक लोग जिनपर कि धर्म तथा समाज़ की उन्नति निर्भर है जैन धर्म के सिद्धान्तों का पठन पाठन करें तो प्रथम रहस्य मय विषय जैन धर्म का अनेकांतवाद है अर्थात् प्रत्येक कार्य किसी न किसी अपेक्षा से ही होता है इसको जैन धर्म की स्याद्वाद शैली कहते हैं इसके पश्चात् कर्मवाद का रहस्य समझना चाहिये इसही कर्मवाद विषय पर

" ईश्वर का जगत्कर्त्ता न होना " आदि विषयों का निर्णय निर्भर है। अन्य धर्मों और जैन धर्म में मुख्य यही भेद हैं कि जैन धर्म में स्याद्वाद (अनेकांत) शैली मानी गई है और जड़ और चेतन रूप यह सर्व जगत अनादि माना गया है किंतु जैनेतर धर्मों में एकान्तवाद और जगत्कर्त्ता ईश्वर ही माना गया है।

संसार में जीवों को हम भिन्न भिन्न दशा में देखते हैं कोई राज्य लक्ष्मी भोग रहा है तो कोई दारिद्र्य दुख भोग रहा है कोई पंडित होकर प्रतिष्ठा प्राप्त करता है तो कोई मूर्ख कहा जाता है इत्यादि बातों से स्वतः सिद्ध हो जाता है कि जीवों का इस दशा से किसी पूर्व दशा (पूर्व भव) से संबंध है यह संबंध किन कारणों से हुवा है. इस विषय में संसार में दो मत हैं।

(१) जैनेतर धर्मों में किसी का तो मंतव्य है कि जीव सर्व सुख दुःख ईश्वरेच्छानुसार ही भोगते हैं जीवों का किसी पूर्वदशा (पूर्व जन्म) से कोई संबन्ध नहीं है और किसी २ का मत है कि ईश्वर जीवों का जन्म मरण करने वाला तो है. किन्तु उनके शुभा शुभ कर्मानुसार न्यायाधीश की तरह न्याय पूर्वक उनको सुख दुख देता है इस प्रकार कोई पुनर्जन्म को मानते हुवे और कोई पुनर्जन्म को न मानते हुवे न्यून २ भिन्नता से सृष्टि का आदि कर्त्ता पालन कर्त्ता न्यायानुसार शुभा

शुभ कर्त्ता और प्रलय कर्त्ता इत्यादि रूप से जगत्का कर्त्ता हर्त्ता ईश्वर को मानते हैं.

(२) किन्तु जैनधर्म सूक्ष्म दृष्टिपूर्वक प्रबल प्रमाणों द्वारा सिद्ध करता है कि ईश्वर तो परम पवित्र निर्दूषण रागद्वेष रहित सर्वज्ञ वीतराग है उस (ईश्वर) को जगत्का कर्त्ता हर्त्ता तथा शुभाशुभ कर्म फलदाता मानना ईश्वरत्व को दूषित करना है ईश्वरत्व के परम उत्तम गुणों से ईश्वर को रहित बतलाना और ईश्वर की निर्दूषणता में कलंक लगाना है तो जगत्कर्तृत्व के विषय में जैन धर्म का क्या मत है ?

जैन धर्म का मत है कि जगत् अनादि है इस जड़ और चेतन रूपी संसार के जितने परिवर्त्तन होते हैं सर्व काल, स्वभाव, कर्म, पुरुषार्थ और नियति के (द्वारा) अनुसार ही होते हैं.

संसार में जो अनन्त जीव हैं प्रत्येक जीव कभी किसी कारण से अपने पूर्व कर्मका फल भोग कर उस कर्म से रहित होते हैं तो कभी नवीन कर्म उपार्जित कर लेते हैं अनादि काल से इस ही प्रकार सर्व जीव कर्म लिप्त हैं संसार में भ्रमण कर्त्ता जीव कभी कर्म रहित दशामें नहीं रहते ज्ञानकी, दर्शनकी आयु की न्यूनाधिक प्राप्ति होना उच्च नीच कुल में उत्पन्न होना सुख दुखादि की प्राप्ति इत्यादि सर्व पूर्व संचित कर्मों ही का

फल है अज्ञान दशा के कारण हितकारी को अहित कर और अहितकारी को हित कर समझ जीव सुख दुख भोगते हैं.

शुभ कर्मों के उदय से सुख मिलता है और अशुभ कर्मों के उदय से दुख मिलता है तो प्रश्न हो सक्ता है कि पूर्व कर्मानुसार सुख दुख जो होना है सो निस्संदेह होही गा तो उद्यम करने की क्या आवश्यक्ता ? यह पूर्व बतला दिया है कि एकान्त में किसी बात को नहीं समझना चाहिये अतएव उद्यम भी कर्त्तव्य है कर्म दो प्रकार के होते हैं (१) सोपक्रम जिन कर्मों की कि ध्यान तपस्या आदि ज्ञान पूर्वक क्रियादि उद्यम से निर्जरा हो सक्ती है (२) निरुपक्रम (निकायश्चित) कि जो कर्म किसी भी प्रकार से विना उनका फ़ल भोगे नहीं छूट सक्ते हैं.

शुभा शुभ कर्मों का विविध प्रकार से कैसे बंधन होता है और कैसे उनके विविध फल रूप जीवों को भवोभव में भ्रमण तथा अनेक प्रकार के सुखदुख आदि प्राप्त होते हैं तथा किस-प्रकार उन कर्मों का अंत करके कर्म रहित हो सक्ते हैं इत्यादि कर्मवाद के विषयों को समझाने के लिये ही श्रीमान् देवेन्द्रसूरि महाराज ने प्राकृत भाषा में कर्म ग्रन्थ को छः भागों में लिखा है जिनमें से कर्म विपाक नामक प्रथम भाग हिंदी भाषान्तर सहित इस पुस्तक में प्रकाशित किया गया है जिसमें कर्मोंकी आठ मूल प्रकृतियां और १५८ उत्तर प्रकृतियों का वर्णन है.

बुद्धिमान पाठकों का कर्त्तव्य है कि विवेक बुद्धि द्वारा कर्म वादका सद् ज्ञान प्राप्त करें. और ज्ञान सहित ध्यान तपादि उत्तम क्रियाओं से सोपक्रम कर्मों का अंत करें और निरुपक्रम कर्मों का फल भोगते समय अशुभ परिणाम न रखकर शुभ परिणाम रखें जिससे उन शुभ परिणाम का शुभ फल ऋद्धि सिद्धि अनेक सुख भोगे पश्चात् सोपक्रम और निरूपक्रम दोनों कर्मों का अंत कर कर्म मुक्त होकर मोक्ष सुख प्राप्त करें ।

निवेदन ।

मुझमें इतनी विद्वता कहां है! कि मैं किसी ग्रन्थ को प्राकृत भाषा से हिंदी भाषान्तर लिखसकूं किंतु परमगुरुवर्य श्री १०८ श्री माणिक मुनिजी महाराज को अनेकानेक धन्यवाद है जिन की मुख्य सहायता से और कृपा दृष्टि से मैं इस कार्यको करने में समर्थ हुआ हूं ।

इस ग्रन्थ में जो अशुद्धियें रह गई हों उनको शुद्धिपत्र से सुधारकर पढियेगा इसके अतिरिक्त भी यदि कोई अशुद्धियें रही हों तो उनके लिये क्षमा मांगते हैं और उनको गीतार्थों से समझ कर पढियेगा.

मिती आसोज शुक्ल १५
बुधवार
संवत् १९७३ — हिन्दी भाषान्तर लेखक.

डा: हरक चन्द धाडीवाल बी.ए., ऐल.ऐम.ऐस. अजमेर।
असिस्टेण्ट सर्जन, बीकानेर।
जन्म ता: १६ डिसम्बर १८७६—मृत्यु ता: ११ जुलाई १९१५।

डाक्टर हरकचन्दजी का संक्षिप्त जीवन चरित्र और ग्रन्थ प्रसिद्ध करने का प्रयोजन.

———o———

जैन जाति का भाग्य अभी तक दुर्बल है और विशेषकर राजपूताना के जैनियों की स्थिति बहुत ही शोचनीय है पहिले तो धनिक मारवाड़ी जैनों के धन की भी कमी होती जाती है पर जो कुछ धन है वह भी केवल आडम्बरों, विवाहोत्सवों, वेश्या-नृत्यों, मृतक भोजनों तथा अन्य कई त्योंहारों पर कुव्ययों में ही खर्च होता है. और यदि कोई महानुभाव अपने द्रव्य का सदुपयोग करके अपनी संतान को शिक्षा देकर इस योग्य करें कि जाति की सेवा करने में समर्थ हो तो इस काल शत्रु से ऐसा नहीं देखा जाता. जैन जाति के दुर्भाग्य से आज हम देखते हैं कि कितने शिक्षित युवक युवावस्था ही में अपनी मनोवांछना सफल किये बिना ही, जाति की मनोकामना पूर्ण किये बिना ही, अपने मातापिता भाई बन्धु की आशाओं पर पानी फेर कर इस अभागी जाति को रोती हुई छोड़कर परलोक सिधार जाते हैं। प्रभो, क्या इस जाति के, क्या तेरी संतान के दिन फिरेंगे, क्या इस जाति की अवस्था सुधारने वालों पर काल दया नहीं करेगा ? क्या इस जाति में वीर चन्द गांधी जैसे पुत्र उत्पन्न फिर नहीं होंगे ?

इसी अजमेर नगर में जैन युवकोंने उत्तमोत्तम शिक्षा पाई उच्चपद प्राप्त किये, जाति में बड़ी २ आशाएं खड़ी कीं पर हाय, दुर्दैव से यह नहीं देखा गया. यहां पर श्रीयुत फतहचन्दजी खाबिया ने बैरिस्टरी की परीक्षा पास करके वकालत में नाम पैदा किया, जज्ज हुये, सिरहमलजी सांड बी. ए. ऐलऐल. बी. में उत्तीर्ण होकर इन्दोर में जज हुये पर उनको युवावस्था में ही संसार छोड़ना पड़ा, ऐसी मृत्यु देखकर हमारी माताओं को वहम होने लगे कि यह शिक्षा का ही फल है कि उनकी सन्तान जल्दी मरजाती है. हमारे चरित्रनायक भी इसी दुष्ट काल के ग्रास बने.

डाक्टर हरकचन्दजी धाड़ीवाल का जन्म ओसवाल जाति के धाड़ीवाल कुटुम्ब में पौष सुदि ११ सं० १६३२ को हुवा. आपके पिता श्रीयुत सेठ मदनचन्दजी धाड़ीवाल अजमेर के एक प्रतिष्ठित पुरुष हैं और आपके बड़े भाई श्रीयुत शिवचन्दजी धाड़ीवाल कई वर्षों तक बीकानेर राज्य में प्रतिष्ठित पदों पर रहे और अब अपने पिता की सेवा में अजमेर में ही रहते हैं डाक्टर साहब के पिता के भाई श्रीयुत मिलापचन्दजी और नेमीचन्दजी बीकानेर राज्य में बहुत उच्चपद पाचुके हैं और श्रीयुत मिलापचन्दजी अब तक १००) पेन्शन पारहे हैं. हरकचन्दजी की विद्यानुराग देखकर उनके पिताने उनको उच्च कोटि

की शिक्षा देना निश्चय किया।

हरकचन्दजी का विवाह सम्वत १६५० में नागोर के सेठ सुपार्श्वमलजी लोढा की सुशीला पुत्री से किया गया. राजपूताना की ओसवाल जाति में, जहां कि १२ वर्ष की आयु होते ही माता पिता को अपने पुत्रों का जीवन नष्ट करने की सूझती है, आज से २२ वर्ष पहले १७ वर्ष की आयु तक अपने पुत्र को अविवाहित रखना डाक्टर साहिब के मातापिता की संतान वात्सल्यता तथा विद्या प्रेम को दर्शाता है. आज हम देखते हैं कि कितने ओसवाल भाई अपनी संतान को सुखी देखने के लिये अथवा दुख के गहरे कूप में डालने और जाति तथा देश का नाश करने के हेतु १३-१४ वर्ष के बालकों का विवाह ६-१० वर्ष की बालिकाओं के साथ करदेते हैं फिर वह बालक किस प्रकार उच्च शिक्षा पासकते हैं, किस प्रकार अपना स्वास्थ्य ठीक रख सकते हैं ?

अजमेर गवर्नमैन्ट कालेज से सम्वत १६५५ में बी. ए. की डिग्री प्राप्त कर लाहोर मैडीकल कालेज में एल. एम. एस. की उपाधि प्राप्त करने के लिये भरती हुये. वहां पांच वर्ष की पढाई थी, परन्तु अति प्रेम होने पर भी उनके मातापिता ने उनसे अनुचित प्रेम नहीं किया. उनका भाविष्य जीवन विगाड़ कर उनकी उच्च अभिलाषाओं पर पानी फेरकर अपने पुत्र को

घर पर ही रखकर किसी दफ्तर में नौकर नहीं करादिया उच्च शिक्षा के फायदे बुद्धिमान लोग ही जानते हैं. यदि इसी प्रकार हमारे धनिक भाई अपने ही पुत्रों को दूर देशों में उच्च शिक्षा पाने के लिये भेजते रहें तो हमको अपनी जाति को गिरी हुई कहने का भी अवसर नहीं मिले, पर 'सूखी रोटी खाकर ही गुजर करलेंगे' या 'हमारा धन पीढियों तक नहीं खूटेगा हम क्यों पढें' इन सिद्धांतों ने भारत का नाश किया, जैन जाति का नाश किया, निर्लोभता की आड में पुरुषार्थ हीनता कार्य करने लगी.

कठिन परिश्रम करके पांच ही वर्ष में सम्वत् १९६० में एल. एम. एस. की परीक्षा में उत्तीर्ण हुये, और डाक्टर हरकचन्दजी राजपूताना की ओसवाल जाति में प्रथम ही और आज तक एक ही डाक्टर हुये थोड़े ही काल में आप को रेवाड़ी में रेलवे लाइन पर असिस्टेंन्ट सरजनी का पद प्राप्त हुवा सम्वत् १९६१ में पटियाला स्टेट की ओर से राजपुरा में असिस्टेंन्ट सर्जन हुये वहां से १९६३ में श्रीमान् अलवर नरेश नें अपनी राजधानी के बड़े अस्पताल में बुलालिया अलवर में पहले असिस्टेंन्ट सर्जन का पद नहीं था पर श्रीमान् अलवर नरेश ने इनके लिये यह पद स्थापित कर इनको नियत किया. यहां पर डाक्टर हरकचंदजीने अपनी बुद्धि दक्षता के कारण और इससे भी अधिक

अपने सच्चरित्र लोकप्रियता और रोगियों के प्रति सद्व्यवहार के कारण ख्यातिपाई अलवर नरेश आप से बहुत प्रसन्न थे जब श्रीमान् ने सुनाकि वीकानेर नरेश डाक्टर हरकचंदजी को बुलारहे हैं तब आपने कहा कि हरकचंद को नहीं जाने दूंगा परन्तु अंत में अधिक वेतन पर वीकानेर जाने की आज्ञादेदी अलवर में पांच वर्ष रहकर सन् १६११ सम्वत १९६८ में वीकानेर में नियत हुये यहां भी उन्हों ने राजा और प्रजा दोनों ही की ओर से वहुत मान पाया पर दुर्भाग्यवश डाक्टर हरकचंदजी को विद्यार्थी अवस्था ही से (Diabetes) का रोग होगया था और इसी ने सम्वत १६७२ के असाढ वदी १४ के दिवस डाक्टर साहिब को इस असार संसार से उठालिया शोक! शोक! उनके माता पिता बन्धुओं के शोक का पार नहीं रहा पर कर्म के आगे किसी की शक्ति काम नहीं आसक्ती.

डा० हरकचंदजी एक गुणी पुरुष थे. इस हाय पैसा हाय पैसा के जमाने में जब कि मनुष्य हरप्रकार से, न्याय से अन्याय से, अमीरों को लूट कर या ग-रीबों को सताकर, वहका कर या ललचा कर, दूसरे का हक छीन कर या जिस प्रकार हो सके धन समेटन में ही लगा रहता है डाक्टर साहब की निर्लोभता धन उपार्जन करने में न्याय-प्रियता अपने मातेहतों के अधिकार का रक्षण करना अपने

शरण आये हुये रोगियों की निस्पृह होकर सेवा शुश्रुषा करना और सेवा के लिये चाहे रात हो या दिन सदा तत्पर रहना उनकी दयालु प्रकृति दर्शाते हैं रोगियों की हाय सुनने पर भी अक्सर डाक्टरों का प्रथम सवाल फीस का ही होता है. निर्धन के रक्षक बहुत कम होते हैं पर डा० हरकचंदजी ने कभी रोगी से फीस का सवाल नहीं किया. भोजन का समय हो अथवा आराम का रात हो या दिन रोगी की पुकार सुनते ही तैयार: उनके इस सद् व्यवहार के कारण आज भी उन नगरों में कि जिनमें इनको अपने गुण प्रकट करने का अवसर मिला इनका यशोगान होरहा है ।

पर काल विकराल ने उन्हें अपने गुण प्रगट करने को विशेष समय नहीं दिया उनको अपने न्यायोपार्जित द्रव्य से अपने ही हाथों जाति तथा देश सेवा करने का अवसर नहीं दिया विद्यार्थी अवस्था समाप्त करने के केवल ११ वर्ष के ही पश्चात् जीवन संग्राम में घुसते ही सेवा के योग्य होते ही उनको काल विकराल ने उठा लिया. उनका प्राइवेट जीवन बहुत ही सादा था यह उनकी तसवीर से ही प्रकट होता है यह उनकी आंतरिक इच्छा थी कि धन का सदुपयोग हो और उनके धन से उचित लाभ मिले उनके पिताने भी उनके विचारों की अनुमोदना की और अपने प्रिय पुत्र के स्मरणार्थ यह कर्म ग्रन्थ तथा

संग्रहणी सूत्र हिन्दी भाषान्तर सहित प्रकट कराये कि जिसको पढ़कर भव्य जीव लाभ उठावें इस कार्य में डा० हरकचंदजी की धर्म पत्नी की अनुमोदना भी सराहनीय है क्योंकि हमारी जाति में स्त्रियां प्रायः ब्राह्मणों को मिष्टान्न खिलाने में ही परलोक गत जीवों को सुख मिलता मानती है.

जैन जाति में सैकड़ों रुपैये स्वर्गवासी महानुभावों के नाम पर व्यय होते हैं पर किस प्रकार ? संडों मुसंडों को मिठाई खिलाने में, मोसरादि करने में, ब्राह्मणों के जिमाने में वा स्मरणार्थ छतरियां बनवाने में परन्तु जैन साहित्य तथा धर्म से अनभिज्ञ रहकर धर्म त्यागने वालों को बचाने के लिये हिन्दी भाषा में ग्रन्थ प्रकट करने में, जाति की दशा सुधरने तथा देशका उद्धार करने को शिक्षा प्रचार के लिये कन्याशाला स्कूल इत्यादि उपयोगी संस्थाओं की सहायता में क्या व्यय होता है ? तब ही तो जैन जाति में पुरुष रत्न उत्पन्न नहीं होते. क्या डाक्टर हरकचंदजी के पिता और धर्मपत्नी का अनुकरण करके अन्य भाई अपने स्वर्गवासी बन्धुओं के स्मरणार्थ रुपया ऐसे शुभ कार्यों में व्यय करके कि जिन से वास्तविक लाभ हो पुण्योपार्जन करेंगे ?

अनुवादक

पृष्ट.	पंक्ति.	अशुद्ध.	शुद्ध.
११	१७	पारिणामिक विद्धि	पारिणामिकी बुद्धि
२०	,,	मोजन	योजन
२२	३	हसी	हँसी
२६	१८	को	के
३२	१६	सम्यक्त	सम्यक्त्व
३५	१४	धोग्य	योग्य
३७	११	के	को
,,	१६	दे	है
,,	१७	सम्यक्त्व	सम्यक्त्व
४५	१५	थाजों	थावों
४६	५	जाता	जाती
४६	८	का	के
५१	१०	विघ्नदि	विघ्नादि
,,	१४	ले	से
५३	७	केदखान	केदखाने
,,	८	जीव	जीव को
५४	३	प्रकृतियां	प्रकृतियों
,,	१२	प्रकृतियां	प्रत्येक प्रकृतियां
५६	६	यश	१०—यश
५७	१६	प्रकृतियों	प्रकृतियां
५८	१	दुभाग्य	दुर्भाग्य
,,	१३	उच्छ्वास	उच्छ्वास
,,	१३	इंद्रिय	१ इंद्रिय
६१	२	उसका	उनको
,,	,,	भी	०
,,	६	होता	होती

,,	१५	येल	थैल
,,	१६	पहुंचाती	पहुंचाता
,,	१७	५	४
६३	२	करते हैं	०
६४	१	की	से
,,	६	कर्म	०
६५	१२	इंद्रिय	इंद्रियें
६३	३	शरीर	शरीर नाम कर्म
६३	४	शरीर नाम कर्म	शरीर
६७	८	करते	कहते
७१	१०	तेऊस	तेजस
७३	१४	संधयण	संघयण नाम कर्म
७४	६	पालथी	पालथी
७५	६	उसको	०
,,	६	उदय	उदय से
७७	६	२	का
,,	१२	उदय	उदय से
८०	५	आता	रहता
८१	१३	पिछे	पीछे
८८	१०	कीत्ति	कीर्त्ति
९०	९	परिणामन	परिणमन
९१	१०	छे जनों	६ मनुष्यों
९३	१९	उसे	उस
९५	१९	नीच गोत्र	निचैः गोत्र
१०५	१७	स्वध्याय	स्वाध्याय
,,	१९	श्लेष्य	श्लेष्म
१०९	१	ईर्ष्या	ईर्षा

* श्री वर्द्धमान जिनाय नमः *

श्री कर्मविपाक नामक प्रथम कर्मग्रन्थ प्रारम्भः ॥

सिरि वीर जिणं वंदिय, कम्म विवागं समासओ वुच्छं। कीरइ जिएण हेउहिं, जेणं तो भणणए कम्मं ॥ १ ॥

अष्ट महा प्रातिहार्य रूपी बाह्य लक्ष्मीयुक्त, केवल ज्ञानादि रूपी अंतरंग लक्ष्मीयुक्त, चौंतीस अतिशयादि रूपी बाह्य लक्ष्मी से सुशोभित, कर्मशत्रु को जय करने वाले, और तपश्चर्या रत्न से विभूषित ऐसे अंतिम तीर्थंकर श्री महावीर प्रभु को नमस्कार करके आठ कर्मों के फलों को बतलाने वाले श्री कर्मविपाक सूत्र को संक्षेप से आरंभ करते हैं।

जिन सत्तावन बन्ध (५ मिथ्यात्व, १२ अविरति, २५ कषाय और १५ योग) हेतुओं से जीव क्रिया करता है उनको शास्त्रों में कर्म कहा है—जैसे कोयले की कोठरी में यदि कोई

मनुष्य शरीर पर तेल लगाकर जावे और उसमें कुछ समय तक ठहरे तो कोयले की सूक्ष्म रज (का रस) उसके शरीर पर चिपक ही जाती है ऐसे ही मिथ्यात्वादि अनादि ५७ बंध के हेतुओं से आत्मा के असंख्यात आत्म प्रदेशों पर अनंतानंत कर्म वर्गणा रूपी जड़ परमाणुओं के समूह लगजाते हैं किन्तु विशेष ता यह होती है कि जिस प्रकार दूध में पानी और लोहे में अग्नि पूर्ण रूप से मिल जाया करते हैं उसी ही प्रकार कर्म प्रदेश आत्म प्रदेशों से सर्वात्म प्रदेशों में मिलजाते हैं और उनका फल आत्मा को अनुभव करवाते हैं जो अपने को भी प्रत्यक्ष सुख दुःख का अनुभव होता है।

यह कर्म सम्बन्ध अनादि है। भव्य जीव कर्म सम्बन्ध छूट जाने पर मुक्ति में जावेगा इस अपेक्षा से जीव का कर्म सम्बन्ध अनादि सान्त है और अभव्य जीव कदापि कर्ममुक्त न होगा इस अपेक्षा से जीव का कर्म सम्बन्ध अनादि अनन्त है। जिस प्रकार सुवर्ण के साथ मिट्टी, पाषाणादि का सम्बन्ध अनादि होने पर भी अग्नि के तीव्र संयोग से सुवर्ण शुद्ध हो जाता है इस ही प्रकार जीव के साथ कर्मों का सम्बन्ध अनादि होने पर भी तपश्चर्यादि और शुक्ल ध्यानादि से जीव शुद्ध अर्थात् मुक्त होजाता है। जैसे बीज के अग्नि में जल जाने से उससे वृक्ष उत्पन्न नहीं होसक्ता वैसे ही जीव के कर्मों का तपश्चर्यादि

और शुक्ल ध्यानादि से विनाश होजाने पर कर्मों का सम्बन्ध जीव के साथ नहीं रह सक्ता। वही जीव जिसका कर्म सम्बन्ध छूट गया है शुद्ध आत्मा, परमात्मा कहा जाता है। जैन शास्त्रों में उस कर्म मुक्त जीव का नाम सिद्ध है। पूर्व में ऐसे अनन्त सिद्ध होगये हैं जो अपने कर्मों का विनाश कर मोक्ष में गये। ऐसे अनन्त होगये हैं और होते रहेंगे।

अतएव प्रत्येक मनुष्य का कर्त्तव्य है कि भव भ्रमण से छूटने के लिये कर्मों का स्वरूप समझकर कर्म बंधन के ५७ कारणों से दूर रहने को यथाशक्ति प्रयत्न करें यह ही कर्म ग्रंथ पढने का सार है।

प्रथम कर्म ग्रंथ में आठ मूल कर्म और उनकी १५८ प्रति विभाग प्रकृतियों का स्वरूप कहते हैं।

पयइ ठिइ रसपएसा, तं चउहा मोअगस्स दिट्ठंता। मूल पगइट्ठ उत्तर, पगइ अडवन्न सयभेअं ॥ २ ॥

कर्म के बंध के ४ भेद।

कर्म के बंध के ४ भेद मोदक का दृष्टांत देकर समझाते हैं।

१ प्रकृति—जैसे मोदक (लड्डू) जिस वस्तु का बना हुवा हो उस वस्तु के गुण स्वभाव के अनुसार ही मोदक की प्रकृति

अर्थात् गुण स्वभाव होते हैं इसही प्रकार कर्म जैसी प्रकृति के किये जाते हैं वैसी ही प्रकृति के आत्मा को अनुभव होते हैं।

२ स्थिति—जैसे मोदक की स्थिति उसके अन्दर की वस्तु के अनुसार ही होती है वैसेही कर्मों का बंध जितना होता है आत्मा को भी उतनी ही स्थिति तक अनुभव होता है।

३ रस—जैसे मोदक उसके अंदर की वस्तु के रस के अनुसार ही मीठा वा कड़ु, नम्र वा कठोर होता है वैसेही कर्म जिस प्रकार किये गये हों उसही प्रकार न्यूनाधिक सुखदायी दुखदायी आत्मा को अनुभव होते हैं।

४ प्रदेश—जैसे मोदक उसके अंदर की वस्तु के प्रदेशों के अनुसार ही भारी हलका होता है वैसेही कर्म पुद्गल जिस प्रकार और जितने संगठित हुवे हों उतने और उसही प्रकार कर्म प्रदेश आत्म प्रदेशों के साथ हलके वा गहरे मिलते हैं।

इन चारों भेदों का विशेष स्वरूप विस्तार से आगे बतायेंगे।

कर्मों की प्रकृति २ प्रकार की होती है।

१—मूल प्रकृति—मूल प्रकृति के आठ भेद हैं।

२—उत्तर प्रकृति—उत्तर प्रकृति के १५८ भेद हैं।

इहनाण दंसणावर, ण वेअ मोहाउ नाम गोआणी। विग्घं च पण नव दुअ, ठवीस चउतिसय दुपणविहं ॥ ३ ॥

मूल कर्मों की आठ प्रकृतियां ।

१–ज्ञानावरणीय कर्म–जिस कर्म के उदय से स्वयं आत्मा का वा अन्य वस्तुओं का अनुभव अर्थात् ज्ञान होने में जो आवरण अर्थात् रोक वा विघ्न आते हैं उस कर्म को ज्ञानावरणीय कर्म कहते हैं इसके ५ भेद हैं।

२–दर्शनावरणीय कर्म–जिस कर्म के उदय से स्वयं आत्मा वा अन्य वस्तुओं को देखने में जो रोक वा विघ्न आते हैं उसको दर्शनावरणीय कर्म कहते हैं इसके ९ भेद हैं।

३–वेदनीय कर्म–जिस कर्म के उदय से सुख और दुख आत्मा को मिलते हैं उसको वेदनीय कर्म कहते हैं इसके २ भेद हैं।

४ मोहनीय कर्म–जिस कर्म के उदय से आत्मा पुद्गलादि से भिन्न (चेतन) होने पर भी जड़ पुद्गलों पर, सांसारिक सम्बधियों पर ममत्व करता है किसी पर राग करता है किसी पर द्वेष करता है उस कर्म को मोहनीय कर्म कहते हैं इसके २८ भेद हैं।

५ आयुकर्म–जिस कर्म के उदय से आत्मा को शरीर रूपी बंधन में रहना पड़ता है उसको आयु कर्म कहते है इसके ४ भेद हैं।

६ नामकर्म–जिस कर्म के उदय से आत्मा नवीन नवीन प्रकार के स्वरूप ग्रहण करता है उसको नामकर्म कहते हैं इस के १०३ भेद हैं।

७ गोत्रकर्म—जिस कर्म के उदय से प्राणी उच्च वा नीच समझा जाता है उस को गोत्र कर्म कहते हैं इसके २ भेद हैं।

८ अंतराय कर्म—जिस कर्म के उदय से आत्मा की अनन्त शक्तियें रुकी हुई हैं उसको अंतराय कर्म कहते हैं इस के ५ भेद हैं।

इस प्रकार सर्व मिलकर ८ मूल प्रकृति के भेदों के १५८ उत्तर प्रकृति भेद होते हैं।

मइ सुअ ओही मणके, वलाणि नाणाणि तत्थ मइनाण। वंजण वग्गह चउहा, मण नयण विणिं दिय चउका॥ ४॥

ज्ञानके ५ भेद।

१ मतिज्ञान—इंद्रियों और मनद्वारा जो ज्ञान आत्मा को होता है वह मति ज्ञान है।

२ श्रुतज्ञान—उपदेश से, चेष्टा से वा पुस्तकों से जो ज्ञान आत्मा को होता है वह श्रुतज्ञान है।

३ अवधिज्ञान—जो आत्मा में द्रव्य क्षेत्र, काल और भाव की मर्यादा वाला ज्ञान इंद्रियों के बिना ही हो वह अवधि ज्ञान है।

४ मनः पर्यवज्ञान—जिस से मनुष्यादि क्षेत्र में संज्ञी तिर्यंच पंचेंद्रिय और मनुष्य का ज्ञान हो वह मनः पर्यव ज्ञान है।

५ केवलज्ञान—जो संपूर्ण निरावरण तीनों काल का एकही समय में निश्चल निरंतर ज्ञान रहे वो केवल ज्ञान है।

मतिज्ञान और श्रुतज्ञान इंद्रिय प्रत्यक्ष हैं और अवधि ज्ञान, मनः पर्यवज्ञान और केवल ज्ञान आत्म प्रत्यक्ष हैं।

मति, श्रुत, अवधि, और मनःपर्यव इन चार ज्ञानों में उपयोग रखना पड़ता है किन्तु केवल ज्ञान में न उपयोग की आवश्यक्ता है और न इन्द्रियों की।

उस ही केवल ज्ञान को धारण करने वाले सर्वज्ञ के वचन प्रमाण भूत होते हैं जैन शास्त्रों के मूल उत्पादक वही सर्वज्ञ केवल ज्ञानी हैं और उन्हीं के बचनानुसार सूत्रों की रचना हुई है।

मतिज्ञान के २८ भेद।

१ व्यंजन अवग्रह—व्यंजन अवग्रह चार प्रकार का होता है स्पर्शेंद्रिय व्यंजन अवग्रह, रसेंद्रिय व्यंजन अवग्रह, घ्राणेंद्रिय व्यंजन अवग्रह और श्रोत्रेंद्रिय व्यंजन अवग्रह। मन और चक्षु का व्यंजन अवग्रह नहीं होता।

स्पर्श, रस, घ्राण और श्रोत्र इन चार इन्द्रियों का पदार्थ के साथ स्पर्श होते ही प्रथम ही जो ज्ञान होता है वो व्यंजन अवग्रह है उपरोक्त चारों इन्द्रियों से जो स्पर्श होते ही प्रथम

ज्ञान होता है उसको उपरोक्त चार प्रकार के व्यंजन अवग्रह समझना चाहिये ।

चक्षुका व्यंजन अवग्रह नहीं होने का कारण यह है कि चक्षु से पदार्थ का ज्ञान बिना स्पर्श के होता है. आंख में जो अंजन डाला जाता है उस अंजन को आंख नहीं देखती है और जो अंजन का गुण मालुम होता है वो स्पर्शेंद्रिय का विषय है इस ही प्रकार मनका भी व्यंजन अवग्रह नहीं होता कारण कि मन भी शरीर में रहा हुवा ही जानता है मन का पदार्थ से स्पर्श नहीं हुआ करता है और व्यंजन अवग्रह बिना स्पर्श के नहीं होता है ।

अत्थुगह ईहावा, यधारणा करण माणसेहिं छहा । इअ अट्ठवीस भेअं, चउदसहा वीसहा वसुअं ॥ ५ ॥

२ अर्थावग्रह—व्यंजन अवग्रह होने पश्चात् आत्मा में जिस से पदार्थ का खयाल होता है उसको अर्थावग्रह कहते हैं वह पांच इंद्रियें और छठे मन से होता है इसलिये उसके ६ भेद कहे जाते हैं. १ स्पर्शेन्द्रिय अर्थावग्रह, २ रसनेंन्द्रिय अर्थावग्रह, ३ घ्राणेन्द्रिय अर्थावग्रह, ४ चक्षुरिन्द्रिय अर्थावग्रह, ५ श्रोत्रेन्द्रिय अर्थावग्रह, ६ मननोइन्द्रिय अर्थावग्रह ।

३ ईहा–अर्थावग्रह के पश्चात् पदार्थ के गुणादि का जो खयाल आत्मा में होता है उसको ईहा कहते हैं। अर्थावग्रह की तरह उन्हीं ५ इन्द्रियों और छठे मन में ईहा होती है इसलिये ईहा के भी वैसे ही ६ भेद समझना चाहिये।

४ अपाय–पदार्थों का खयाल हुवे पश्चात् पदार्थों के गुणों में परस्पर क्या भेद है वह अपाय है वह भी ५ इन्द्रियों और छठे मन में होता है इसलिये उसके भी वैसे ही ६ भेद समझना चाहिये।

५ धारणा–आत्मा में सर्व ज्ञान स्थित रहे उसको धारणा कहते हैं वह भी ५ इन्द्रियों और छठे मनमें होती है इसलिये उसके भी वैसे ही ६ भेद जानना चाहिये।

व्यंजन अवग्रह का काल **मिश्रगुण स्थानक**[१] के काल जितना है. अर्थावग्रह, ईहा और अपाय इन तीनों का काल **अन्तर्मुहूर्त**[२] के काल जितना है और धारणा का काल **सागरोपम**[३] के काल जितना है।

स्मृति रहना और पूर्वभवों का ज्ञान होना अर्थात् जाति स्मरण ज्ञान होना भी मतिज्ञान की धारणा का ही भेद है।

---

१ मिश्र गुण स्थानक–चौदह गुण स्थानों में से तीसरे गुण स्थान का नाम है गाथा १ दूसरे कर्म ग्रन्थ में देखो।

२ अन्तर्मुहूर्त–४८ मिनिट (मुहूर्त) से कम समय।

३ सागरोपम–असंख्यात वर्षों का काल।

श्रुत निःसृत मतिज्ञान के २८ भेदों का यंत्र ।

स्पर्शेन्द्रिय	घ्राणेन्द्रिय	रसनेन्द्रिय	श्रोत्रेन्द्रिय	चक्षुरिन्द्रिय	मननो इंद्रिय	२८
१ व्यंजन अवग्रह	१ व्यञ्जन अवग्रह	१ व्यञ्जन अवग्रह	१ व्यंजन अवग्रह	०	०	४
२ अर्थावग्रह	२ अर्थावग्रह	२ अर्थावग्रह	२ अर्थावग्रह	२ अर्थावग्रह	२ अर्थावग्रह	६
३ ईहा	३ ईहा	३ ईहा	३ ईहा	३ ईहा	३ ईहा	६
४ अपाय	४ अपाय	४ अपाय	४ अपाय	४ अपाय	४ अपाय	६
५ धारणा	५ धारणा	५ धारणा	५ धारणा	५ धारणा	५ धारणा	६

इन २८ भेदों के प्रत्येक के बारह २ भेद भी होते हैं जैसे कहीं वाजित्र बजरहा हो उस समय १ कोई थोड़ा सुने २ कोई ज्यादा सुने ३ कोई धीरें सुने ४ कोई जोर से सुने ५ कोई जल्दी सुने ६ कोई देर से सुने ७ कोई चिन्ह से सुने ८ कोई विना चिन्ह भी सुने ९ कोई शंका सहित सुने १० कोई शंका रहित सुने ११ कोई एकवार कहने से सुने १२ कोई अनेकवार कहने से सुने।

उपरोक्त अनुसार प्रत्येक के बारह २ भेद होने से २८×१२=३३६ तीनसो छत्तीस भेद होते हैं।

इसके अतिरिक्त ४ प्रकार की बुद्धि भी होती है।

१ उत्पातिकी–जो तात्कालिक बुद्धि कार्य करने में सहायक होती है वो उत्पातिकी बुद्धि है।

२ वैनयिकीबुद्धि–जो गुरु सेवा से प्राप्त होती है वो वैनयिकी बुद्धि है।

३ कार्मिकीबुद्धि–जो अभ्यास करने से प्राप्त होती है वो कार्मिकी बुद्धि है।

४ पारिणामिकबुद्धि–जो दीर्घायु होने पर संसार में अनुभव लेने से प्राप्त होती है वो पारिणामिकी बुद्धि है।

पूर्वोक्त ३३६ भेदों को श्रुत निःसृत मतिज्ञान के भेद कहते है। और इन चार प्रकार की बुद्धि के भेदों को अश्रुत निः

सृत मति ज्ञान के भेद कहते हैं। इस प्रकार मतिज्ञान के २८+४ वत्तीस और ३३६+४ तीन सो चालीस भेद होते हैं।

श्रुत ज्ञान के चौदह भेद होते हैं और वीस भेद भी होते हैं.

अक्खर सन्नी सम्मं, साईअं खलु सपज्भ वसिअं च गमिअं अंग परिट्ठं, सत्तविए ए स-पडिवक्खा ॥ ६ ॥

श्रुत ज्ञान के १४ भेद।

१ अक्षर श्रुत, २ अनक्षर श्रुत, ३ संज्ञीश्रुत, ४ असंज्ञीश्रुत, ५ सम्यक् श्रुत, ६ असम्यक् श्रुत, ७ सादिश्रुत, ८ अनादिश्रुत, ९ सपर्यवसित श्रुत १० अपर्यवसित श्रुत ११ गमिकश्रुत १२ अगमिक श्रुत १३ अंगप्रविष्ट श्रुत १४ अंगवाह्य श्रुत।

१ अक्षरश्रुत—अक्षर ३ प्रकार के होते हैं संज्ञा अक्षर व्यंजन अक्षर और लब्धिअक्षर।

संज्ञाअक्षर—जो अक्षर लिखने के कार्य में लिये जाते हैं।

व्यंजन अक्षर—जो बोलने के कार्य में आते हैं।

लब्धि अक्षर—आत्मा में जो संज्ञा और व्यंजन अक्षरों का ज्ञान होता है।

संज्ञा और व्यंजन अक्षरों को द्रव्यश्रुत भी कहते हैं।

लब्धि अक्षरों को भावश्रुत भी कहते हैं।

२ अनक्षर श्रुत—किसी के श्वास, डकार, छींक, खांसी आदि से जो प्राणी का ज्ञान व पहचान होती है उसको अनक्षर श्रुत कहते हैं।

६ संज्ञी श्रुत—दीर्घकालिकीसंज्ञा³ वाले जो पंचेंद्रिय तिर्यंच और मनुष्यादि गर्भज प्राणी हैं उनके ज्ञान को संज्ञी श्रुत कहते हैं।

जो दृष्टि वाद संज्ञा वाले चौदह पूर्व के ज्ञानी सर्वश्रुत के पारंगामी अंप्रमादी मुनि श्रुत केवली होते हैं उनके ज्ञान को उत्कृष्ट संज्ञाश्रुत कहते हैं उसका ज्ञान विशेष आगे बतायेंगे।

४ असंज्ञी श्रुत—हेतुउपदेशिकीसंज्ञा⁴ वाले मन रहित प्राणी के ज्ञान को असंज्ञी श्रुत कहते हैं एकेंद्रिय, बेंद्रिय, तेंद्रिय, चतुरिंद्रिय और सन्मूर्छिम पंचेंद्रिय जो मनरहित प्राणी हैं उनको केवल अपने आहार, भय आदि की संज्ञा है उनका ज्ञान बहुत अल्प है वे धर्म अंगीकार करने को भी अयोग्य होते हैं इसलिये उनको असंज्ञी में लिया गया है।

५ सम्यक् श्रुत—सर्वज्ञ वीतराग भाषित तत्वज्ञान को समझने और मानने से जो ज्ञान हो इसका नाम सम्यक् श्रुत है।

---

३ दीर्घ कालि की संज्ञा—संज्ञी पंचेन्द्री (मन वाले) प्राणी का ज्ञान।

४ हेतु उपदेशि की संज्ञा—असंज्ञी (बिना मन के) प्राणी का अल्प ज्ञान।

६ असम्यक् श्रुत–सर्वज्ञ भाषित तत्वज्ञान के विमुख प्राणी का जो ज्ञान हो वो असम्यक् श्रुत है।

७ सादि श्रुत–किसी प्राणी को जो नवीन ज्ञान प्राप्त होता हो वो सादिश्रुत है। द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से जो नवीन ज्ञान होता है वो चार प्रकार का है। द्रव्यसादि, क्षेत्र सादि, काल सादि और भाव सादि।

८ अनादि श्रुत–जो ज्ञान पूर्व से ही है वह अनादि श्रुत है।

९ सपर्यवसित श्रुत–जिस ज्ञान का कभी अंत होजावे वह सपर्यवसित श्रुत अथवा सांत श्रुत है।

१० अपर्य वसित श्रुत–जिस ज्ञान का कभी अंत ही न होवे वह अपर्यवसित श्रुत अथवा अनन्त श्रुत है।

११ गमिक श्रुत–एक ही समान वार २ वही आलावा (शब्द समूह) आते हैं उनके ज्ञान को गमिक श्रुत कहते हैं ऐसे सूत्र को गमिक सूत्र कहते हैं ऐसे पाठ बारहवें दृष्टिवाद अंग में आते हैं।

१२ अगमिक श्रुत–एक ही समान शब्द समूह वार २ नहीं आते हैं उसके ज्ञान को अगमिक श्रुत कहते हैं ऐसे पाठ कालिक सूत्र में हैं।

१३ अंग प्रविष्ठ श्रुत–आचारांग आदि बारह अंग शास्त्रों के ज्ञान को अंग प्रविष्ठ श्रुत कहते हैं।

१४ अंग बाह्य श्रुत–उपांग, उत्तराध्ययन दशवैकालिक आदि शास्त्रों के ज्ञान को अंग बाह्य श्रुत कहते हैं।

पज्झय अक्खर पयसं, घाय पडिवत्ति तहय अणु ओगो। पाहुड पाहुड, वत्थु पुव्वाये ससमासा॥ ७॥

श्रुत ज्ञान के २० भेद।

१ पर्यायश्रुत–सूक्ष्म निगोद के जीव को जन्म के प्रथम समय में ज्ञान होता है और उससे दूसरे समय में जितना ज्ञान बढता है वह पर्यायश्रुत है।

२ पर्यायसमासश्रुत–ऐसे दो चार पर्यायश्रुत को पर्याय समासश्रुत कहते हैं।

३ अक्षरश्रुत–अकारादि लब्धि अक्षर को अनेक व्यंजन पर्याय सहित जानने का नाम अक्षरश्रुत है।

४ अक्षर समासश्रुत–ऐसे दो चार लब्धि अक्षरों का ज्ञान होने का नाम अक्षर समासश्रुत है।

५ पदश्रुत–'अ'कारादि दो चार अक्षर भिन्न २ अर्थ के वाचक हों इसका नाम पदश्रुत है।

६ पद समासश्रुत–ऐसे दो चार पदश्रुत का नाम पद समासश्रुत है।

७ संघात श्रुत–जो गति आदि चौदह मार्गणाद्वार[६] में से मनुष्य आदि कोई भी गति के जीव का ज्ञान हो उस को संघातश्रुत कहते हैं।

८ संघात समासश्रुत–ऐसे दो चार गति के जीवों के ज्ञान को समासश्रुत ज्ञान कहते हैं।

९ प्रतिपत्तिश्रुत–गति आदि चौदह मार्गणा में से एक मार्गणा में संसार के सर्व जीवों के भेद समझना इसको प्रतिपत्ति श्रुत कहते हैं।

१० प्रतिपत्तिसमासश्रुत–ऐसे दो चार मार्गणा में जीव के भेदों का वर्णन समझना इसको प्रतिपत्ति समासश्रुत कहते हैं।

११ अनुयोग श्रुत–सत्पद प्ररूपणा में जीव आदिक पदार्थों का विवरण करना इसको अनुयोगश्रुत कहते हैं।

१२ अनुयोग समासश्रुत–ऐसे दो चार पदार्थों का भिन्न २ रीति से वर्णन करना इसको अनुयोग समासश्रुत कहते हैं।

१३ प्राभृत प्राभृत श्रुत–दृष्टिवाद नाम बारहवें अंग में भिन्न २ प्रकरणों के स्थान में छोटे २ विभाग हैं ऐसे एक विभाग के ज्ञान को प्राभृतश्रुत कहते हैं।

१४ प्राभृत प्राभृत समास श्रुत–ऐसे दो चार विभाग के ज्ञान को प्राभृत प्राभृत समास श्रुत कहते हैं।

---

६ मार्गणा द्वार–(देखो नवतत्त्व] सम्पूर्ण जीव द्रव्यका जिसके जरिये विचार किया जावे–उनकी संख्या १४ है।

१५ प्राभृत श्रुत–दृष्टिवाद नामक बारहवें अंग में अनेक विभागों का एक भाग होता है जैसे अनेक उद्देशा मिलकर अध्ययन बनता है ऐसेही अनेक प्राभृत प्राभृतों का एक प्राभृत होता है उसके ज्ञान को प्राभृत श्रुत कहते हैं ।

१६ प्राभृत समास श्रुत–ऐसे दो चार प्राभृतों के ज्ञान को प्राभृत समास श्रुत कहते हैं ।

१७ वस्तु श्रुत–अनेक प्राभृतों का एक वस्तु होता है उस एक वस्तु के ज्ञान को वस्तु श्रुत कहते हैं ।

१८ वस्तु समास श्रुत–ऐसे दो चार वस्तुओं के ज्ञान का नाम वस्तु समास श्रुत है ।

१९ पूर्वश्रुत–अनेक वस्तुओं का एक पूर्व होता है उस एक पूर्व के ज्ञान को पूर्वश्रुत कहते हैं ।

२० पूर्व समास श्रुत–ऐसे दो चार पूर्व के ज्ञान को पूर्व समास श्रुत कहते हैं ।

यहांपर प्रसंगोपात् १४ पूर्व के नाम भी लिख देते हैं । १ उत्पाद, २ अग्रायणीय, ३ वीर्यप्रवाद, ४ अस्ति प्रवाद, ५ ज्ञानप्रवाद, ६ सत्यप्रवाद, ७ आत्मप्रवाद, ८ कर्मप्रवाद, ९ प्रत्याख्यान प्रवाद, १० विद्याप्रवाद, ११ कल्याण, १२ प्राणवाद १३ क्रियाविशाल, १४ लोकबिंदुसार ।

अग्गु गामि वद्धमाणय. पडिवाईयर विहा

छहा ओही । रिउमइ विउलमई मण, नाणं केवल मिगविहाणं ॥ ८ ॥

अवधि ज्ञान के ६ भेद ।

१ अनुगामी—जो ज्ञान सदा साथ रहता है ।

२ अननुगामी—जो ज्ञान सदा साथ नहीं रहता है ।

३ वर्द्धमान—जो निरंतर बढता रहता है ।

४ हीयमान—जो दिन प्रतिदिन घटता रहता है ।

५ अप्रतिपाती—जो ज्ञान निरंतर रहता है ।

६ प्रतिपाती—जो ज्ञान आकर चला जाता है ।

किन्तु इन सबका वर्णन विस्तार से सूत्रों से समझना चाहिये अब द्रव्य क्षेत्र काल और भावकी अपेक्षा से समझाते हैं ।

(क) द्रव्य से अवधि ज्ञानी अनंत रूपी द्रव्यों को जानते और देखते हैं । उत्कृष्ट से सर्व रूपी द्रव्यों को जानते हैं और देखते हैं ।

(ख) क्षेत्र से अंगुलका असंख्यातवां भाग जानते हैं और देखते हैं । और उत्कृष्ट से लोकाकाश के रूपी पदार्थों को जानते हैं और देखते हैं । अलोक में आकाश के अतिरिक्त कुछ नहीं है । नहीं तो वहां परभी रूपी पदार्थों को असंख्यात लोकक्षेत्र प्रमाण तक जाने और देखे ।

(ग) काल से आवली[1] का असंख्यातवां भाग परिमाण अतीत अनागत काल जानते हैं और देखते हैं । उत्कृष्ट से असंख्यात काल चक्र समय परिमाण अतीत अनागत रूपी द्रव्य के विषय को जानते हैं और देखते हैं ।

(घ) भावसे अनन्त भावको जानते हैं, और देखते हैं उत्कृष्ट से भी अनन्त भाव को जानते हैं और देखते हैं ।

जैसे मतिज्ञान और श्रुतज्ञान के विरुद्ध मतिज्ञान और श्रुत अज्ञान होते हैं ।

ऐसे ही अवधिज्ञान के विरुद्ध विभंग ज्ञान होता है अर्थात् वीतराग भाषित तत्त्वज्ञान पर जहांतक श्रद्धा नहीं वहांतक अवधिज्ञान से कुछ सत्य जाने और कुछ असत्य भी जाने ।

अतएव मति, श्रुत और अवधि इन तीन ज्ञानों के तो दो २ भेद होगये किन्तु मनःपर्यव ज्ञान और केवल ज्ञान में मिथ्यात्व का अंश न रहने से इन दोनों के इसप्रकार के भेद नहीं होते ।

मनके पर्यायों को जानने को मनः पर्यव ज्ञान कहते हैं वस्तु में रूपान्तर होने को पर्याय (पर्यव) कहते हैं ।

मुनिराजों को चारित्र लेने पश्चात् अप्रमाद अवस्था में शुद्ध भाव से संयम पालने पर मनःपर्यव ज्ञान होता है ।

---

१ श्वासोश्वास से भी छोटा काल प्रमाण.

किंतु जम्बू स्वामी के निर्वाण पश्चात् भरत क्षेत्र में नहीं होता है महाविदेह क्षेत्र में होता है.

मनः पर्यव ज्ञान के दो भेद हैं.

१ रुजुमती मनः पर्यवज्ञान—एक मनुष्य मनमें कोई वात विचाररहा हो उसको थोड़े पर्यायों को जान लेने का नाम रुजुमती मनः पर्यवज्ञान है.

२ विपुलमती मन पर्यवज्ञान किसी के मन की बात को अनेक पर्यायों में जानलेने का नाम विपुलमती मनः पर्यवज्ञान है.

अब द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से समझाते हैं.

(क) द्रव्य से रुजुमति अनंतानंत प्रदेश वर्गणा वाले मन द्रव्य को जानता है और विपुल मती बहु प्रदेशी अति सूक्ष्ममन द्रव्य को जानते हैं.

(ख) क्षेत्र से रुजुमती तिरछी दिशा में अढ़ी द्वीप पर्यंत जानते हैं और ऊंचाई में ज्योतिषि देवताओं के रहने के देव लोक के उपर के तलेतक जानते हैं और नीचाई में विजय तक जानते और देखते हैं अर्थात् नौ सो योजन ऊंचे और नौ सो योजन नीचे जानते हैं और देखते हैं और विपुलमती अढीद्वीप बाहर अढ़ाई अंगुल अधिक शुद्ध जानते हैं और देखते हैं.

---

१ महाविदेह का एक भाग है.

(ग) काल से ऋजुमती पल्योपम के असंख्यातवें भागकी चेतावनी को जानते हैं और विपुलमती उससे कुछ अधिक जानते हैं.

(घ) भाव से ऋजुमती द्रव्य की चेतावनी के असंख्यात पर्यायों को जानते हैं और विपुलमती कुछ अधिक जानते हैं.

केवल ज्ञान.

केवल ज्ञान में किसी प्रकार के भेद नहीं होते हैं क्योंकि पदार्थों में जितने रुपान्तर होते हैं होगये हैं, और होवेंगे उन सर्व को एक ही समय में एक ही साथ केवलज्ञानी जानते हैं और देखते हैं.

(क) १ क्षय—आठ कर्मों का जितना अंश में नाश होता है वो उनका क्षय होना कहा जाता है क्षय हुवे कर्मों को क्षायिक कहते हैं।

(ख) कर्मों के शांत होने को उपशम कहते हैं.

(ग) क्षयोपशम—कुछ अंश में क्षय हो और कुछ अंश में उपशम हो उसको क्षयोपशम कहते हैं। ज्ञानावरणीय कर्म का संपूर्ण क्षय होता है तब केवल ज्ञान होता है वहां तक चार ज्ञान में क्षयो पशम जानना चाहिये। क्षयोपशम भाव में प्रमाद हो जाय तो कुछ अंश मे ज्ञान में हानि हो जाती है और भाव शुद्धि से अप्रमाद अवस्था में ज्ञान की वृद्धि होती है.

एक साधु को उपाश्रय में काजा लेते समय भाव शुद्धि से अवधिज्ञान हुवा था किंतु जब वो अवधिज्ञान में इन्द्र और इंद्रानी का झगडा देख रहाथा तो उसको हसी आगई जिससे अवधिज्ञान तुरंत चला गया। इस प्रकार और भी ज्ञान में समझ लेना चाहिये.

ज्ञान वृद्धि के इच्छुक को निम्न लिखित बात अवश्य स्मर्ण रखना चाहिये.

कालेविणए बहुमाणे, उवहाणे तहय निन्हवणे, वंजण अत्थतदुभए, अट्ठविहो नाण मायारो॥

१ योग्य समय पर पढना २ पढानेवाले का विनय करना ३ पुस्तक ग्रंथादि का बहुमान करना ४ इंद्रियों की उन्मत्तता दूर करनेको यथा शक्ति तपस्या करना, ५ पढानेवाले का जीवन पर्यंत उपकार मानना, ६ उच्चारण में सूत्रों का शुद्ध पढना ७ मूल के साथ ही साथ अर्थ भली प्रकार समझना ८ मूल और अर्थ दोनों को सम्यक् प्रकार से स्मृति में रखना.

इस प्रकार ज्ञान के अठावीस, चौदह वा बीस, छः, दो और एक ऐसे सर्व मिलकर इक्यावन अथवा सत्तावन भेद हुवे.

एसिं जं आवरणं पडुच्च चक्खुस्स तं तयावरणं, दंसण चउ पण निद्दा, वित्तिसमं दंसणावरणं ॥ ९ ॥

ज्ञानावरणीय (ज्ञान के आवरण) का स्वरूप.

पूर्व गाथाओं में बतलाये अनुसार मति आदि ५ प्रकार के ज्ञान को जो आवरण करते हैं अर्थात् जैसे आंख को पाटा बांधने से आंख का तेज ढक जाता है इस ही प्रकार मति ज्ञानावरणीय कर्म मति को नहीं बढने देते हैं। श्रुत ज्ञानावरणीय कर्म विद्याध्ययनादि में विघ्न करते हैं। अवधिज्ञानावरणीय कर्म अवधिज्ञान प्राप्त करने में रोकते हैं। मनः पर्यवज्ञानावरणीय कर्म मनः पर्यवज्ञान को रोकते हैं और केवल ज्ञानावरणीय कर्म केवल ज्ञान को रोकते हैं।

जैसे दिन में सूर्य के प्रकाश को बादल ढककर उसकी प्रभा को रोक देते हैं तथापि सूर्य है इतना बतलाने को प्रकाश कुछ अंश में तो अवश्य रहता है इस ही प्रकार आवरण होने पर भी ज्ञान का कुछ अंश प्रत्येक जीव में अवश्य रहता है अर्थात् ज्ञान रहित कोई भी जीव नहीं है।

चेतना चैतन्यता को कहते हैं और जिसमें चेतना है उसको सचित् कहते हैं और चेतना रहित को अचित् अथवा जड़ कहते हैं।

शुद्ध जीव सिद्ध भगवान का है उसको केवल ज्ञानी ही देख सक्ते हैं और कर्मधारी जीव की चेष्टाओं से चार ज्ञान वाले उसे जानते हैं कि वह जीव है वा अजीव है।

"श्रुत केवलज्ञान" 'पर्यव *अक्षर' को समझना चाहिये क्योंकि अभिधेय (कहने योग्य) वस्तु धर्म **स्वपर्याय** है और अनभिधेय (नहीं कहने योग्य) वस्तुधर्म **परपर्याय** है।

केवल ज्ञानी को अभिधेय और अनभिधेय दोनों ही स्व-पर्याय है इस प्रकार श्रुतकेवलज्ञान और केवलज्ञान इस प्रकार जो दोनों ही ज्ञान के **पर्याय** समान हों उसको पर्यव अक्षर कहते हैं।

* उत्कृष्ट से उस (केवलज्ञान) का अनंतवां भाग श्रुत केवली को मालुम होता है।

जघन्य से निगोद के जीव की संज्ञा आदि चेतना रूप ज्ञान का भान रहता है।

---

* जो पदार्थ केवलज्ञानी श्रुत ज्ञान से कह सके वह अभिधेय है और जो नहीं कही जा सके वह अनभिधेय हैं. अभिधेय को चौदह पूर्वधारी श्रुत केवल ज्ञानी सम्पूर्ण जान सकता है यानि अभिधेय दोनों केवली में समान है. उसे ही पर्यव अक्षर कहते हैं किन्तु केवलज्ञानी को अनभिधेय का भी ज्ञान है परन्तु उसको नहीं कहे जा सकने के कारण श्रुत केवलज्ञानी नहीं जानते इसी कारण श्रुत केवली के लिये अनभिधेय ज्ञान पर पर्याय है और अभिधेय स्वपर्याय है, केवलज्ञानी के लिये तो दोनों ही स्वपर्याय है।

* उत्कृष्ट श्रुतज्ञान श्रुत केवली का कहते है और वह केवल ज्ञानका अनन्तवां भाग है. जघन्यश्रुत ज्ञान निगोद जीवको होता है क्योंकि उसे भी संज्ञा चेतनादि श्रुतज्ञान के लक्षण है।

श्रुतज्ञानी श्रुतज्ञान से वृद्धि करते २ केवली के अनुसार अभिधेय पदार्थों का स्वरूप जानते हैं।

केवलज्ञानी सबसे अधिक सम्पूर्ण जानते हैं और निगोद का जीव सबसे कम जानता है।

केवलज्ञान पर पूर्ण आवरण होता है और दूसरे चार ज्ञानों पर अपूर्ण आवरण होता है इसलिये केवलज्ञान का आवरण सर्वघाती और दूसरे अन्य ४ ज्ञानों का आवरण देशघाती कहे जाते हैं।

दर्शनावरणीय कर्म के ६ भेद।

चार प्रकार के आवरण और पांच प्रकार की निद्रा इस प्रकार दर्शना वरणीय कर्म के ६ भेद होते हैं।

चार प्रकार के आवरण।

१ चक्षुदर्शनावरणीय, २ अचक्षुदर्शनावरणीय, ३ अवधिदर्शनावरणीय, ४ केवलदर्शनावरणीय।

पांच प्रकार की निद्रा।

१ निद्रा, २ निद्रानिद्रा, ३ प्रचला, ४ प्रचलाप्रचला, और ५ थीनद्धी (स्त्यानर्द्धि)।

पदार्थ का स्वरूप जानने को ज्ञान कहते हैं और सामान्य रीति से जानने को और देखने को अर्थात् विशेष रूप से न जा-

नने को और देखने को किन्तु कुछ अंश में (प्रकट) देखने को दर्शन कहते हैं। चार प्रकार के आवरण और पांच प्रकार की निद्रा ये ६ कारण इंद्रियों को देखने और जानने में विघ्न करते हैं और रोकते हैं इसलिये इनको दर्शनावरणीय कर्म के ६ भेद कहते हैं।

जिस प्रकार यदि कोई राजा प्रजा का सुख दुःख जानना चाहें किन्तु द्वारपाल विघ्न किया करे तो राजा और प्रजा का मिलाप न होने से राजा प्रजा का हाल नहीं जानसक्ता है इस ही प्रकार जीव किसी वस्तु का स्वरूप जानना वा देखना चाहें तो दर्शनावरणीय कर्मों के विघ्नादि से जीव भी नहीं जान सक्ता है और न देख सक्ता है।

चक्खू दिट्ठि अचक्खू, सेसिंदिय ओहि केवलेहिं च दंसण मिहसामन्नं, तस्सावरणं हवइ चउहा ॥ १० ॥

४ प्रकार के दर्शनों का स्वरूप।

१ चक्षुदर्शन—पदार्थ को विना स्पर्श आंखों से देखने को कहते है।

२ अचक्षु दर्शन—पदार्थ को आंखों के सिवाय चार इंद्रियों तथा मनके द्वारा सामान्य प्रकार के ज्ञान को कहते है।

३ अवधि दर्शन—उसे कहते हैं जो अवधिज्ञान से पदार्थ को प्रथम समय में जाने वा देखे।

४ केवल दर्शन—केवल ज्ञान और केवल दर्शन में भेद होना असम्भव है उसमें न सामान्य होते हैं न विषेश होते हैं उसका विशेष स्वरूप गीतार्थों[1] से समझना चाहिये।

सूत्रों की टीका में मतिज्ञान के व्यंजन अवग्रह, अर्थावग्रह और ईहा इन तीनों को दर्शन में लिया है और अपाय और धारणा को ज्ञानमें लिया है।

मनपर्यव ज्ञान को दर्शन में नहीं लिया है क्योंकि उसमें विशेष अवबोध होता है।

श्रुतज्ञान को भी दर्शन में नहीं लिया है क्योंकि श्रुतज्ञान का विशेष सम्बन्ध मनके साथ होता है। श्रुतज्ञान और मति-ज्ञान दोनों ही साथ हुवा करते हैं इन दोनों का विशेष संबंध है।

उपरोक्त चार दर्शनों को जो आवरण अर्थात् रुकना है उनको दर्शनावरणीय कर्म कहते हैं।

सुह पडिबोहा निद्दा, निद्दा निद्दाय दुक्ख पडिबोहा पयला ठिओव विट्ठस्स, पयल पयलाय चंकमओ ॥ ११ ॥

---

१ सम्पूर्ण शास्त्रों के ज्ञाता.

५ प्रकार की निद्रा का स्वरूप।

१ निद्रा–किसी सोते हुवे को कोई जगावे वा न जगावे किन्तु वो सुख पूर्वक जगजावे अर्थात् इच्छानुसार ही शांति के लिये निद्रा ले और इच्छानुसार ही जागे उसकी नीद को निद्रा कहते हैं।

२ निद्रानिद्रा–कोई अत्यंत कठिनता से जगाया जा सके अर्थात् इच्छापूवर्क जाग न सके किन्तु उसको जागने में भी दुःख होवे उसकी निद्रा को निद्रानिद्रा कहते हैं।

३ प्रचला–जो बैठेहुवे कुछ काम कर रहे हो वहां भी निद्रा आने लगे जिससे काम में विघ्न होना भी सम्भव हो उस निद्रा को प्रचला कहते हैं—जैसे कोई मनुष्य दीपक के समीप बैठकर वहीं लिख रहा था उसको निद्रा आई और उसकी पगड़ी जलगई।

४ प्रचला प्रचला–किसी को घोड़े की तरह चलते हुवे भी निद्रा आती हो जैसे घोड़ा चलते २ मुंह में दाना खाता हुवा चलता है किन्तु दाने में जव कंकर आजाता है वा ठोकर लगजाती है तब जाग जाता है वैसे ही चलते २ कोई निद्रा लेता है और उसको धक्का या ठोकर लगता है या लोहू निकलता है तब जागता है उसकी निद्रा को प्रचला प्रचला कहते हैं।

रोगी, अशक्त और वालक आदि की निद्रा से उपरोक्त

निद्राओं का संबन्ध नहीं है किन्तु युवान और निरोगी आदि की निद्रा से तात्पर्य है।

दिणचिंतिअत्थ करणी, थीणद्धी अद्ध चक्कि अद्धवला।

पांचवीं थीनद्धी निद्रा का स्वरूप।

उपरोक्त ४ प्रकार की निद्राओं के अतिरिक्त थीनद्धी (स्त्यानार्द्धि) नामक पांचवीं निद्रा है इस निद्रा में अर्द्ध चक्रवर्ती अर्थात् वासुदेव से आधा वल रहता है इस वल से निद्रा ही में हाथी के दांतों को उखाड़ फेंक देता हैं इस निद्रा में वल का दुरुपयोग ही होता है।

यदि किसी दिक्षित साधु को ऐसी निद्रा आती हो तो उसके गुरू उसको निकाल देते हैं। वर्त्तमान में ऐसी निद्रा किसी भी प्राणी को नहीं होती है। ऐसी निद्रा वाला प्राणी मरने पर अवश्य नरक जाता है।

उपरोक्त निद्राओं से आत्मा को पदार्थ को जानने और देखने में आवरण अर्थात् विघ्न होते हैं इसलिये इनको दर्शनावरणीय कर्म कहते हैं।

महुलित्त खग्गधारा, लिहणं वदुहाउ वेअणिअं ॥ १२ ॥

ओसन्नं सुरमणुए, सायमसायं तु तिरिश्र निरिएसु ।

वेदनीय कर्म के २ भेदों का स्वरूप ।

संसार में २ प्रकार के जीव देखने में आते हैं कोई सुखी और कोई दुखी अर्थात् जो निरोगता, लक्ष्मी आदि से युक्त हो उसको सुखी कहते है और जो दारिद्र्य और विविध-चिन्ताओं और रोगादि से पीड़ित हो उसको दुखी कहते है जिन कर्मों के उदय से जीव को सुख और दुख मिलता है उनको वेदनीय कर्म कहते हैं वे वेदनीय कर्म २ प्रकार के होते हैं ।

१ शातावेदनीय-जिन कर्मों के उदय से पूर्वकृत पुण्यानुसार प्राणी को शाता अर्थात् संसारी सुख मिलता है उनको शाता-वेदनीय कर्म कहते है ।

२ अशाता वेदनीय-जिन कर्मों के उदय से पूर्वकृत पापों के अनुसार अशाता अर्थात् दुख मिलता है उनको अशाता वेदनीय कर्म कहते हैं ।

शास्त्रों में संसारी सुख को भी तलवार की धार पर शहद लगाकर चाटने के आनन्द तुल्य बतलाया है अतएव ज्ञानी पुरुष संसारी सुख की भी वांछा नहीं करते हैं किन्तु मुक्ति की ही अभिलाषा रखते हैं ।

दुःख तो सबको ही अप्रिय है उसको कोई नहीं चाहता है ज्ञानी पुरुष पूर्वकृत पापानुसार दुख आपड़ने पर सहन शीलता से दुःख भी भोग लेते हैं और ज्ञान द्वारा कर्ममुक्त होते हैं।

प्रायः नरक और निगोद में सबसे अधिक दुःख है तिर्यंच में न्यून सुख और अधिक दुःख है. देवलोक और मनुष्य में प्रायः अधिक सुख है। (किन्तु स्मरण रहे कि नरक और निगोद के जीवों को भी तीर्थंकरों के कल्याणकादि समय पर थोड़े समय के लिये सुख हुआ करता है वैसे देवताओं को भी कभी पारस्परिक द्वेष के कारण. दुःख हुआ करता हैं इस ही कारण ओसन्नं अर्थात् प्रायः शब्द का यहां उपयोग किया गया है)

मज्झंव मोहणीअं, दुविहं दंसण चरण मोहा ॥ १३ ॥

मोहनीय कर्म का स्वरूप और उसके दो भेद।

जैसे मदिरा पीये हुवे मनुष्य को अपने हिताहित का ज्ञान नहीं रहता है वैसे ही मोहनीय कर्म के कारण जीव को आत्म हित अहित का ज्ञान नहीं होता है मोहनीय कर्म के दो भेद हैं।

१ दर्शन मोहनीय, २ चारित्र मोहनीय।

दंसण मोहं तिविहं, सम्मंमीसं तहेव मिच्छत्तं, सुद्धं अद्ध विसुद्धं, अविसुद्धं तं हवइ कमसो॥१४॥

दर्शन मोहनीय और उसके ३ भेदों का स्वरूप.

दर्शन का अर्थ जो पहले (दर्शनावरणीय कर्म के वर्णन में) बतला चुके हैं वह अर्थ यहां नहीं समझना चाहिये।

यहां पर दर्शन शब्द का अर्थ धर्म पर श्रद्धा समझना चाहिये दर्शन मोहनीय के ३ भेद हैं।

केवली भगवान ने पदार्थों का स्वरूप जो यथायोग्य जाना और देखा है और उनसे सुनकर गणधरों ने शास्त्रों में जो तत्व बतलाया है उसको सच्चा समझना उसे सम्यक्दर्शन कहते हैं और सम्यक्दर्शन को प्राप्त करने में जो विघ्न बाधाएं होती हैं उनके कारण को दर्शन मोहनीय कर्म कहते हैं. इसके तीन भेद हैं:—१ सम्यक्दर्शन मोहनीय, २. मिश्र मोहनीय, ३ मिथ्यात्व मोहनीय।

प्रथम ज्यादा शुद्ध होता है द्वितीय अर्द्धशुद्ध होता है और तृतीय अशुद्ध होता है।

जैसे कि गुजरात में कोद्रवा नामक एक नशेदार अन्न होता है उसको प्रथम वार धोने से उसके छिलके हट जाते हैं किन्तु वह वैसा ही नशेदार बना रहता है द्वितीय वार धोने से उसमें आधा नशा रहजाता है और तृतीय वार धोने से उसमें नशा बिलकुल नहीं रहता है और खाने योग्य होजाता है इसही प्रकार सम्यक्त पाने पूर्व जीव तीन करण करता है १ यथा प्रवृत्तिकरण २ अपूर्वकरण ३ अनिवृत्तिकरण इन तीनों

में अनुक्रम से शुद्धि होती जाती है तीसरे में उपशम सम्यक्त्व होता है उस समय पर मिथ्यात्व के चार स्थानिक, तीन स्थानिक और दो स्थानिक रस को निकाल देने पर एक स्थानिक अर्थात् ½ मिथ्यात्व प्रदेश मात्र जो शांत होने से ज्यादा विघ्न नहीं करते हैं वो रहने पर उपशम सम्यक्त्व होता है।

द्रव्य कर्म को केवली या अवधि ज्ञानी जानते हैं क्योंकि वे सूक्ष्म रूप में आत्मा के साथ मिल जाते हैं और भावकर्म जो चेष्टा वा परिणाम रूप हैं उनको अपन भी जान सक्ते हैं।

जिअ अजिअ पुराण पावा, सव संवर बंध मुक्ख निज्झरणा; जेणं सद्द हई तयं, सम्मं खइगाई बहुभेअं ॥ १५ ॥

नवतत्व प्रकरण में ९ तत्वों का स्वरूप बतलाया गया है और विस्तार से आगे आवेगा किन्तु संक्षेप से यहां भी बतला देते हैं।

नवतत्वों का संक्षेप से स्वरूप।

१ जीवतत्व—५ इंद्रिय, ३ बल, १ श्वासोश्वास और १ आयु इन दश वा कमसे कम चार द्रव्य प्राण का धारी, अथवा ज्ञानादि भाव प्राण का धारी जीव कहलाता है. ऐसे जीव को

जीव समझना जीवतत्व है इस के १४ भेद हैं विशेष वर्णन जीव विचार से समझना चाहिये ।

२ अजीवतत्व–जिसमें चेतना लक्षण नहीं हो और जीवके प्राणों से रहित हो उसको अजीव समझने का नाम अजीवतत्व है । इसके १४ भेद हैं ।

३ पुण्य तत्व–जीवों को दुख न देना, सहाय करना दान देना, आदि दयालु कार्यों के परिणाम को भाव पुण्य कहते हैं. और शाता वेदनीय सुख भोगने में आवे वो द्रव्य पुण्य हैं इन द्रव्य और भाव पुण्यों का यथोचित समझ ने का नाम पुण्यतत्व है इसके ४२ भेद हैं ।

४ पापतत्व–मिथ्यात्व अविरति आदि के उदय से दूसरों को दुख देने के मलीन परिणामों को भाव पाप कहते हैं । और यहां जो प्रत्यक्ष दुख भोगते हैं और मिथ्यात्व से दूसरों के साथ कपट करने की जो बुद्धि है वो द्रव्य पाप है उसे यथायोग्य समझने का नाम पापतत्व है इसके ८२ भेद हैं ।

५ आश्रव तत्व–अनादि काल से इंद्रियों में लुब्ध होने से राग द्वेष रूप जो परिणाम होते हैं और मिथ्यात्व अविरति आदि उदय में आते हैं वो भाव आश्रव है और उसके साथ नये कर्म समूह का आकर मिलना वो द्रव्य आश्रव है इन आश्रवों को यथा योग्य समझने का नाम आश्रव तत्त्व है इसके ४२ भेद हैं ।

६ संवर तत्व—कर्मों के रोकने के उपाय रूपी क्षायिक आदि भावों से आत्मा को शुद्ध करने का नाम भाव संवर है और भावसंवर से नये आश्रवों को रोकने का नाम द्रव्य संवर है इस प्रकार इन द्रव्य और भाव संवर को यथा योग्य समझने का नाम संवर तत्व है इसके ५७ भेद हैं।

७ बंध तत्व—शुद्ध आत्मा को प्रतिकूल क्रोधादि कषायों से कर्म बंध हेतु रूपी जो चिकनाई होती है उसको भाव बंध कहते हैं और उस चिकनाई से कर्म दल एकरूप होकर जो बंध होता है उसको द्रव्य बंध कहते हैं इन द्रव्य और भाव बंधको यथा योग्य समझने का नाम बंध तत्व है इसके चार भेद हैं।

८ मोक्ष तत्व—कर्मनाश करने को शुद्ध आत्म स्वरूप का जो अनुभव होता है उसको भाव मोक्ष कहते हैं और जीव प्रदेशों से सर्व कर्म प्रदेशों के छूट जाने का नाम द्रव्य मोक्ष है इन दोनों का यथा योग्य द्रव्य और भाव मोक्ष समझने का नाम मोक्ष तत्व है इसके ९ भेद हैं।

९ निर्जरा तत्व—कर्म की शक्ति को कम करने वाले तप संयम आदि शुद्ध उपयोग रूप शक्ति को भाव निर्जरा कहते हैं और उससे कर्म प्रदेशों का आत्म प्रदेशों से पृथक् होजाने को द्रव्य निर्जरा कहते हैं इन दोनों प्रकार की निर्जरा को यथा योग्य जानने का नाम निर्जरा तत्व है।

सम्यक्त्व का स्वरूप

उन ६ तत्वों को जैसा श्री तीर्थंकर केवली भगवान् ने बतलाया है कि १ मूल द्रव्य से नित्य, २ पर्याय से अनित्य, ३ निश्चय से अभिन्न, ४ व्यवहार से भिन्न, ५ सामान्य से एक, ६ विशेष से अनेक, ७ ज्ञान से ज्ञेय, ८ क्रिया से हेय और ९ उपादेय इस प्रकार नय[1] निक्षेप[2] से मिलाकर सापेक्ष अनंत धर्म वाला १ कथंचित् उत्पन्न २ कथंचित् नष्ट और ३ कथंचित् ध्रुव इस प्रकार एक ही समय में तीनों ही स्वरूप में पदार्थ होता है ऐसे केवली भाषित तत्वज्ञान के वचनों पर रुचि अथवा श्रद्धा हो उसका नाम सम्यक्त्व है उपरोक्त अतिरिक्त अनेक भेद हैं उनमें से कुछ यहां भी बतलाते हैं १ तत्वार्थ की श्रद्धा हो तो एक विध सम्यक्त्व जानना चाहिये।

(अ) निश्चय सम्यक्त्व—आत्मा के शुद्ध ज्ञानादिक परिणाम को, शुद्ध परिणाम आत्मा के स्वरूप को अथवा वीतराग अवस्था के सम्यक्त्व को निश्चय सम्यक्त्व कहते हैं।

(ब) व्यवहार सम्यक्त्व—सराग अवस्था में जो सम्यक्त्व हो

---

१ नय सात हैं उसमें दो मुख्य हैं. निश्चय और व्यवहार—नयकर्णिका देखो।

२ निक्षेप मुख्य चार है, नाम स्थापना द्रव्य और भाव-

अथवा कुगुरु कुदेव का जो अस्वीकार और सुगुरु सुदेव का स्वीकार हो उसको व्यवहार सम्यक्त्व कहते हैं।

सम्यक्त्व के विशेष प्रचलित तीन भेद यह हैं।

१ क्षायिक सम्यक्त्व—अनंतानुबंधी क्रोधादि ४ कषाय और दर्शन मोहनीय की ३ प्रकृति इन सात प्रकृतियों के क्षय होने पर जो तत्वरुचि होती है उसको क्षायिक सम्यक्त्व कहते हैं।

२ उपशम सम्यक्त्व—उन्हीं सात प्रकृतियों के शांत होने अर्थात् दबा देने का नाम उपशम सम्यक्त्व हैं॥

३ क्षायोपशमिक सम्यक्त्व—जो उन्हीं सात प्रकृतियों के उदय में आने पर जो उसका नाश किया हो और उदय में न आने पर जो शेष कायम भी रहा हो तो उसके क्षायिको पशमिक सम्यक्त्व कहते हैं—तत्पश्चात् सम्यक्त्व मोहनीय के रुक जाने से जो तत्व रुचि प्रगट होती है उसको वेदक सम्यक्त्व कहते हैं उपशम में इतना विशेष है कि मिथ्यात्व प्रदेश का भी यहां उदय नहीं और क्षय उपशम में रसोदय मिथ्यात्व का उदय नहीं प्रदेश का उदय है.

वेदक सम्यक्त्व और क्षायोपशमिक सम्यक्त्व दोनों एक ही हैं इसलिये इसको अलग भेद नहीं समझा जाता है।

इस प्रकार सम्यक्त्व के ३ भेद हुवे जिनोक्त क्रिया को

करे उसको कारक सम्यक्त्व कहते हैं उसमें रुचि रक्खे उसको रोचक सम्यक्त्व कहते हैं उसको संसार में प्रकाश करे उसको दीपक सम्यक्त्व कहते हैं इस प्रकार सम्यक्त्व के अनेक भेद हैं सो गीतार्थ गुरू महाराज से जानना चाहिये।

अब दर्शन मोहनीय के तीनों भेदों को समझाते हैं.

सम्यक् दर्शन मोहनीय जिसके उदय से वीतराग भगवान् भाषित तत्व ज्ञान पर श्रद्धा अर्थात् सम्यक्त्व हो किंतु बुद्धि की न्यूनता से सूक्ष्म तत्वों की सत्यता में शंका हो जिससे मिथ्यात्व के पुंज संचित होते हों इसको सम्यक् दर्शन मोहनीय कहते हैं

मीसान राग दोसो, जिण धम्मे अंत मुहु जहा अन्ने। नालिअर दीव मणुणो, मिच्छं जिण धम्म विवरीअं॥ १६॥

२ मिश्र मोहनीय।

मिश्र मोहनीय के उदय से जीवको सर्वज्ञ भाषित धर्म पर न तो अभ्यन्तर प्रेम और न द्वेष होता है अर्थात् केवली भाषित वचनों में जरा भी असत्य नहीं हैं उनके वचनों के अतिरिक्त जगत् में और कोई भी हितकारी नहीं हैं ऐसा चित्तमें न तो प्रतिबंध (भाव) होता है और न केवली भाषित धर्म से द्वेष होता है.

इसका काल दो से लेकर नो श्वासो श्वास प्रमाण है पश्चात् चाहे मिथ्यात्व रहे वा सम्यक्त्व रहे ।

मिश्रमोहनीय को समझाने के लिये यहां पर नारियल का दृष्टांत बतलाते हैं जैसे कि यदि किसी द्वीप में नारियल अतिरिक्त किसी भी प्रकार के अन्न फलादिक न तो उत्पन्न होते हैं और न मिल सक्ते हैं तो उस द्वीप के निवासी नारियल के अतिरिक्त अन्नफलादि से न तो प्रेम रखते हैं और न द्वेष रखते हैं इसही प्रकार मिश्रमोहनीय वाला वीतरागभाषित धर्मको न तो सत्य मानता हैं और न असत्य मानता है अथवा कभी कुछ सत्य भी मानता है वा कुछ असत्य भी मानता है ।

सिद्धांत वालों और कर्म ग्रन्थ वालों में किसी २ स्थान में विषमवाद आता हैं क्योंकि पूर्वों के विच्छेद के पश्चात् अ-ग्यारह अंग शेष रहें तो पूर्वाचार्यों ने कर्म ग्रन्थ को उपयोगी समझ इसका उद्धार किया इसलिये जो सिद्धांतिक मत में और कर्म ग्रन्थ में कहीं कहीं भेद पड़ता है उसको बहुश्रुत गीतार्थों से समझना चाहिये ।

सिद्धान्तिक मत से सम्यक्त्व से गिर मिश्र में नहीं आता है किन्तु मिथ्यात्व से मिश्र में आता है क्योंकि सम्यक्त्व की उत्तमता का अनुभव होने पर यदि उसको त्यागकर दे तो उसको मिथ्यात्वी ही कहना चाहिये ।

३ मिथ्यात्व मोहनीय ।

मिथ्यात्व मोहनीय के उदय से केवली भाषित तत्वज्ञान पर श्रद्धा (विश्वास) के स्थान में स्वयं अश्रद्धा रखता है और दूसरों को भी अश्रद्धा कराता है जैसे किसी ने धतूरा खा रक्खा हो तो सुवर्ण नहीं हो वह उसको भी सुवर्ण समझता है उसी तरह मिथ्यात्व मोहनीय के उदय से कुगुरु को सुगुरु, कुदेव को सुदेव और कुधर्म को सुधर्म मानता है ।

मिथ्यात्व के दश भेद ।

१—साधु को असाधु समझना और मानना
२—असाधु को साधु मानना
३—क्षमा आदि धर्म को अधर्म मानना
४—हिंसा आदि अधर्म को धर्म मानना
५—अजीव को जीव मानना
६—जीवको अजीव मानना
७—उन्मार्ग को सुमार्ग मानना
८—सुमार्ग को उन्मार्ग मानना
९—कर्मरहित को कर्म सहित मानना
१०—कर्मसहित को कर्मरहित मानना

सोलस कसाय नवनो कसाय दुविहं चरित्त

मोहणियं; अण अपच्चक्खाणा, पच्चक्खाणाय संजलणा ॥ १७ ॥

चारित्र मोहनीय और उसकी २५ प्रकृतियों का स्वरूप

आत्मा की शुद्ध प्रवृत्ति अर्थात् आत्म रमणता में आत्मा की चेष्टा रहे और पुद्गलों से और बाह्य क्रियादि से रमणता छूट जावें इसको भाव चारित्र कहते हैं किन्तु क्रोधादि कषायों के कारण आत्म रमणता नहीं होसक्ती है अतएव इन क्रोधादि कषायों को चारित्र मोहनीय कर्म का उदय समझना चाहिये.

चारित्र मोहनीय की २५ प्रकृतियें इस प्रकार होती हैं:—

क्रोध, मान माया और लोभ ये जो ४ कषाय हैं इन के प्रत्येक के चार २ भेद होते हैं.

अनंतानुबंधी, अप्रत्याख्यानी, प्रत्याख्यानी और संज्वलन इस प्रकार १६ प्रकृति हुई और कषाय के सम्बन्धी ही ९ नव नो कषाय होते हैं इस प्रकार सर्व मिलकर चारित्र मोहनीय की २५ प्रकृतियें होती हैं.

श्रीमद् शीलांगाचार्य ने इन २५ में से ४ अनंतानुबंधी की प्रकृतियें दर्शन मोहनीय में ली हैं क्योंकि इन चार से दर्शन मोहनीय भी होता है।

अर्थात् मोहनीय की जो २८ प्रकृति होती हैं वे एक अपे-

क्षा से तो दर्शन मोहनीय की ३ और चारित्र मोहनीय की २५ इस प्रकार २८ होती हैं दूसरी अपेक्षा से चार अनंतानुबंधी की और तीन दर्शन मोहनीय में ऊपर बतलाई हुई इस प्रकार सात दर्शन मोहनीय की और ४ अनंतानुबंधी की कम करदेने पर २१ चारित्र मोहनीय की इस प्रकार कुल २८ प्रकृति होती हैं.

कषायों के १६ भेद.

१ अनंतानुबंधी क्रोध, २ अनंतानुबंधी मान, ३ अनंतानुबंधी माया, ४ अनंतानुबंधी लोभ, ५ अप्रत्याख्यानी क्रोध, ६ अप्रत्याख्यानी मान, ७ अप्रत्याख्यानी माया, ८ अप्रत्याख्यानी लोभ, ९ प्रत्याख्यानी क्रोध, १० प्रत्याख्यानी मान, ११ प्रत्याख्यानी माया, १२ प्रत्याख्यानी लोभ, १३ संज्वलन क्रोध, १४ संज्वलन मान, १५ संज्वलन माया, १६ संज्वलन लोभ.

प्रथम ४ अनंतानुबंधी प्रकृतियां सम्यक्त्व की बाधक हैं.

द्वितीय ४ अप्रत्याख्यानी प्रकृतियां देशविरति श्रावकके गुणों की बाधक हैं.

तृतीय ४ प्रत्याख्यानी प्रकृतियों से सर्व विरति सराग संयम की प्राप्ति में बाधा आती है.

चतुर्थ ४ संज्वल की प्रकृतियों से यथाख्यात चारित्र की प्राप्ति रुकती है.

इसही विषय में निम्नलिखित विवरण में विशेष बतलाते हैं.

जा जीव वरिस चउमास, पक्खग्गा निरय तिरिय नर अमरा। सम्माणु सव्वविरई, अह-खाय चरित्त घायकरा ॥ १८ ॥

(क) जो क्रोधादि कषायों के कारण परस्पर विरोध होगया हो उसके लिये संवत्सरी (वार्षिक) प्रति क्रमण करके न क्षमा करे और न क्षमा मांगे और मनमें द्वेष ही रक्खे यदि ऐसे द्वेष को जीवन पर्यंत रक्खे और मृत्यु समय भी उसके लिये न क्षमा मांगे और न क्षमा करे तो सम्यक्त्व प्राप्त न होवे और प्रायः नरक गति में जाता है ऐसे क्रोधादि अनंतानुबंधी होते हैं यदि इनके लिये प्रत्येक **चौमासी प्रतिक्रमण** में क्षमा न की हो न मांगी हो किंतु संवत्सरी प्रति क्रमण करके क्षमा मांगले और क्षमा करदे तो सम्यक्त्व की प्राप्ति भी होसक्ती है।

(ख) जो **चौमासी प्रतिक्रमण** करके न क्षमा मांगी हो न क्षमा की हो और द्वेष ही रक्खा हो तो देश विरति धर्म नहीं मिल सक्ता है और उसकी मृत्यु होने पर प्रायः तिर्यंच गति में जाता है उसे अप्रत्याख्यानी क्रोधादि कहते हैं.

(ग) जो पक्खी प्रति क्रमण करके चमा न मांगी हो और न चमा की हो और द्वेष ही रक्खा हो तो सर्व विरति धर्म नहीं मिल सक्ता है और मृत्यु होने पर प्रायः मनुष्य गति में आता है ऐसे क्रोधादि प्रत्याख्यानी होते हैं ।

(घ) जो प्रातः और सायंकाल को दोनों समय प्रतिक्रमण करके चमा न मांगी हो और न चमा की हो और द्वेष ही रक्खा हो तो यथाख्यात चारित्र प्राप्त नहीं होता है और मृत्यु हो तो प्रायः देवलोक में ही जाता है ऐसे क्रोधादि को संज्वलन कषायादि समझना चाहिये किंतु जो निरंतर प्रति दिन दोनों समय प्रातः और सायं प्रतिक्रमण में चमा किया करे तो यथाख्यात चारित्र की प्राप्ति होती है ।

अतएव प्रत्येक का कर्त्तव्य है कि अपने पापों की शुद्धि के लिये नित्य दोनों समय प्रतिक्रमण कर अपने अपराधों की सर्व जीवों से क्षमा मांग कर द्वेष दूर करना चाहिये और और सर्व जीवों के अपराधों की चमा करके उनके हृदय को शांत करना चाहिये.

यदि चमा देने वाले उपस्थित न हो, वा देने योग्य न हों वा जान बूझ कर कोई चमा न करते हों तो देव गुरु की साक्षी से कोमल हृदय से पश्चात्ताप पूर्वक अपने पापों की निंदा गर्हा करके चमा मांगना चाहिये.

कषाय अधिकाधिक हों वह अनंतानुबंधी होता है और ज्यों २ कम हों उनको अन्य तीन समझना चाहिये. अधिकाधिक से नरकगति और ज्यों २ कम हों उनसे शेष ३ गतियें मिलती हैं. कषायों के सर्वथा अभाव से केवलज्ञान की प्राप्ति होजाती है.

दृष्टांत—जैसे किसीने अपनी हानि हुई देखकर किसी पर अत्यंत क्रोधकर उसकी हत्या करडाली तो फांसी का कारण हुवा यदि उसको दंड दिया मार पीट दी तो कैद जाने का कारण हुआ यदि उसको गाली दी तो दंड का कारण हुआ. क्षमा की तो कोई हानि नहीं हुई इसलिये क्रोध, मान, माया और लोभ का त्याग करना चाहिये और क्षमा सरलता आदि गुण प्राप्त करना चाहिये अन्यथा ज्यों २ कषाय अधिक करेंगे त्यों २ अधमगति प्राप्त होंगी और त्यों २ सम्यक्त्व, देशविरति सर्वविरति और यथाख्यात चारित्र प्राप्त होने में हानि होगी.

कम बुद्धि वालों के लिये यह दृष्टान्त बतलाये हैं किंतु प्रसनचन्द्र राजर्षि की तरह दो घड़ी में अनंतानुबंधी क्रोधादि होजाते हैं और बाहुबलिजी की तरह एक वर्ष तक भी संज्वलन मान रहसकता है.

जलरेणु पुढवि पव्वय, राई सरिसो चउव्वि-

हो कोहो तिणसलया कट्ठऽट्ठिअ, सेलत्थंभो व-
मोमाणो ॥ १६ ॥

क्रोध के ४ भेद ।

१ संज्वलन क्रोध–पानी में रेखा खैंची जावे तो तत्काल मिट जाता है ऐसे ही जो क्रोध तत्काल शांत होजावे उसको संज्वलन क्रोध कहते हैं ऐसा क्रोध प्रायः साधु मुनिराज भी अपने शिष्यों के हित शिक्षार्थ किया करते है।

२ प्रत्याख्यानी क्रोध–रेती में रेखा खैंची जावे तो वो वायु से शीघ्रही मिट जाती है ऐसे ही जो क्रोध समझाने पर वा क्षमा मांगने पर अथवा उचित दंड देने के पश्चात् शीघ्र ही मिट जावे उसको प्रत्याख्यानी क्रोध कहते हैं ऐसा क्रोध प्रायः श्रावक को होता है जो ज्ञान द्वारा विचार कर शीघ्र ही क्रोध का त्याग कर देता है।

३ अप्रत्याख्यानी क्रोध– तालाव की मिट्टी में कहीं रेखा (दरार) होगई हो तो वो वर्षा होने पर मिलजाती है ऐसे ही क्रोध वश बदला लेकर वा अल्प समय के पश्चात् यदि क्रोध त्याग दिया जावे तो उसको अप्रत्याख्यानी क्रोध कहते हैं जैसा कि जिसको क्रोध के त्याग का व्रत नहीं है किन्तु उसको

अनुचित समझने पर त्याग कर देता है अर्थात् अविरति का क्रोध समझना चाहिये।

४ अनंतानुबंधी क्रोध—यदि किसी कारण से पर्वत में दरार होगई हो तो वो कभी नहीं मिटती है ऐसे ही जो क्रोध कभी नहीं शांत होता है उसको अनंतानुबंधी क्रोध कहते हैं ऐसा क्रोध मिथ्यात्वी ही को होता है क्योंकि वो मिथ्यात्व के कारण ही से उस क्रोध को शांत नहीं कर सक्ता है।

मान का स्वरूप

संज्वलन मान—बेंत के ऊपर की छाल जैसे शीघ्र नम जाती है वैसे ही जिस मान में उपदेश से वा अवसर पड़ने पर विनय उत्पन्न होजावे उसको संज्वलन मान कहते हैं।

प्रत्याख्यानी मान—सूखा काष्ट तेल लगाने पर जैसे नम जाता है वैसे ही जिस मान में अधिक समझाने पर विनय उत्पन्न हो जावे उसको प्रत्याख्यानी मान कहते हैं।

अप्रत्याख्यानी मान—हड्डी, अत्यंत प्रयोगादि करने पर, जैसे नम जाती है वैसे ही जिस मान में अनेक कष्ट पाकर समझने पर विनय उत्पन्न हो जावे उसको अप्रत्याख्यानी मान कहते हैं।

अनंतानुबंधी मान—पत्थर का स्थंभ अनेक प्रयोगादि करने

पर भी जैसे कदापि नहीं नमता है वैसे ही जिस मान में कदापि विनय उत्पन्न नहीं हो उसको अनंतानुबंधी मान कहते हैं।

माया वलेहि गोमुत्ति, मिंढसिंग घणवंस मूलसमा; लोहो हलिद्द खंजण, कद्दम किमिराग सारित्थो॥ २० ॥

माया के ४ भेद

संज्वलन माया—जैसे बंसपटी (बांस की छाल) खेंचने से सीधी हो जाती है वैसे ही समझ पड़ने से जो कपट स्वभाव शीघ्र छूट जावे उसको संज्वलन माया कहते हैं।

प्रत्याख्यानी माया—जैसे बैल के (चलते २ मूत्र करने के कारण) मूत्र की तिरछी रेखा सूख जाने पर मिट जाती है ऐसे ही बोध मिलने पर भी जो कपट स्वभाव छूट जावे उसको प्रत्याख्यानी माया कहते हैं.

अप्रत्याख्यानी माया—जैसे मैंढे के सींग की टेढाई प्रयोग करने पर सीधी होजाती है वैसे ही दंड मिलने पर भी जो कपट छूट जावे उसको अप्रत्याख्यानी माया कहते हैं.

अनंतानुबंधी माया—जैसे बांस का मूल (गांठ) कितने भी प्रयोग किये से सीधा नहीं होता है वैसे ही जो कपट कदापि न छूटे उसको अनंतानुबंधी माया कहते हैं।

लोभ के ४ भेद।

संज्वलन लोभ—जैसे हलदी का रंग वस्त्रादि से सहज ही में छूटजाता है वैसे ही जो ममत्व सहज ही में छूट जावे उसको संज्वलन लोभ कहते हैं।

प्रत्याख्यानी लोभ—जैसे मिट्टी के वरतन (करवा) का मैल कठिनता से छूटता है वैसे ही जो ममत्व कठिनता से छूटता है उसको प्रत्याख्यानी लोभ कहते हैं।

अप्रत्याख्यानी लोभ—जैसे गाड़ी का वांग (भूका काला चीकट) की चीकनाई वस्त्रादि पर लग जावे तो अनेक प्रयोगों से अत्यंत कठिनता से छूटती है वैसे ही जो ममत्व अत्यंत कठिनता से छूटता है उसको अप्रत्याख्यानी लोभ कहते हैं।

अनंतानुवंधी लोभ—जैसे पक्के लाल रंग का दाग कदापि भी दूर नहीं होता है वैसे ही जो ममत्व कदापि नहीं छूटता हो उसको अनंतानुवंधी लोभ कहते हैं

"कषाय के दो भेद भी होते हैं"—१ प्रशस्त. २ अप्रशस्त प्रशस्त कषाय वह है जो परमार्थ के लिये किया जावे जैसे वह क्रोध जो शिष्य या वच्चों को सन्मार्ग पर लाने को किया जावे इसी प्रकार जो माया या लोभ परमार्थ के लिये किया जावे वह प्रशस्त है. इससे विपरीत जो कषाय स्वार्थ के लिये

किया जावे वह अप्रशस्त है. प्रशस्त की मर्यादा प्रत्याख्यानी वा संज्वलन से नहीं बढनी चाहिये.

जस्सु दया होइ जिए हासरइ अरइ सोग-भय कुत्था, सनिमित्त मन्नहा वा ते इह हासाइ मोहणिअं ॥ २१ ॥

६ नो कषाय का स्वरूप.

१ हास्य मोहनीय—जिसके उदय से (भांड की) चेष्टा से वा बिना कारण ही हंसी आवे उसको हास्य मोहनीय कहते हैं.

२ रति मोहनीय—जिसके उदय से बिना कारण वा कारण से अनुकूल विषय में आनंद प्राप्त हो और ममत्व उत्पन्न हो उसको रति मोहनीय कहते हैं.

३ अरति मोहनीय—जिसके उदय से अपने विरुद्ध कोई कार्य होने पर अथवा कोई भी कार्य अपने विरुद्ध न होने पर जो मनमें द्वेष भाव उत्पन्न होता है और उद्वेग होता है उसको अरतिमोहनीय कहते हैं.

४ शोक मोहनीय—जिसके उदय से बिना कारण ही वा इष्ट वियोग से चित्त में खेद और रुदन उत्पन्न हो उसको शोक मोहनीय कहते हैं.

५ भय मोहनीय—जिसके उदय से दुष्टों से वा भूत प्रेतादि

से भय उत्पन्न होता है उसको भय मोहनीय कहते हैं इस के ७ भेद हैं:-

(१) इहलोक भय अर्थात् बलवानों और दुष्टों को देख कर इसलोक में डरना.

(२) परलोक भय अर्थात् भूत प्रेतादि से वा नरक गति से डरना ।

(३) आदान भय-अर्थात् चोर, लुटेरों से डरना।

(४) अकस्मात् भय-बिजली अग्नि आदि अकस्मात् उपद्रवों से डरना ।

(५) आजीविका भय-जीवन निर्वाह में विघ्नादि का भय,

(६) मरण भय--मृत्यु होने का डर ।

(७) अपयश भय--बदनामी होने का डर ।

६ जुगुप्सा मोहनीय--जिसके उदय से मल मूत्रादि से घृणा उत्पन्न होने से मुंह टेढा करते हैं उसको जुगुप्सा मोहनीय कहते हैं ।

७-९ तीन वेद

पुरिसित्थि तदुभयं पइ अहिलासोजव्वसा हवइसोउ थी नर नपुवेओ दओ, फुफुम तण नगर दाहसमो ॥ २२ ॥

तीन प्रकार के वेद

स्त्री वेद, पुरुष वेद, और नपुंसक वेद,

७ स्त्री वेद--जिससे पुरुष के साथ भोग करने की इच्छा हो उसको स्त्री वेद कहते हैं।

८ पुरुष वेद--जिससे स्त्री के साथ भोग करने की इच्छा उत्पन्न हो उसको पुरुष वेद कहते हैं।

९ नपुंसक वेद--जिससे दोनों के साथ भोग करने की इच्छा हो उसको नपुंसक वेद कहते हैं।

स्त्री वेद के लक्षण--जिस प्रकार छाणों की अग्नि फूंक देने से वार २ जलती है और अधिक समय तक ठहरती है इसी प्रकार स्त्री को पुरुष के साथ वर्त्ताव होने से वार २ भोग की अभिलाषा होती है और अधिक समय तक रहती है।

पुरुष वेद के लक्षण--जिस प्रकार तृण की अग्नि शीघ्र ही जलती है और शीघ्र ही बुझ जाती है उसी ही प्रकार पुरुष को भोग की अभिलाषा शीघ्र ही होती है और शीघ्र ही शांत हो जाती है।

नपुंसक वेद के लक्षण--जिस प्रकार नगर जलने लगे तो अनेक दिनों तक जलता रहता है उसी ही प्रकार नपुंसक के भोग की अभिलाषा सदाही रहती है कभी शांत ही नहीं होती है।

सुर नर तिरि निरयाउ, हडिसरिसं नाम कम्म चित्तिसमं । बायाल तिनवइ विहं, उत्तर ति सयं च सत्तट्ठी ॥ २३ ॥

आयु कर्म और उसके ४ भेद ।

जितने समय तक जीव स्थूल शरीर रूपी बंधन में रहता है उस समय को आयु कहते हैं जैसे अपराधों के कारण कैदी को कैद की अवधि पूरी होने तक कैदखाने में ही रहना पड़ता है वैसेही जिस कर्म से जीव स्थूल शरीर रूपी बंधन में आयु पर्यंत रहना पड़ता है उसको आयु कर्म कहते हैं ।

आयु कर्म के चार भेद हैं ।

१ देव आयु कर्म–जिस कर्म के उदय से देवता की आयु पर्यंत देवता के शरीर रूपी बंधन में जीव रहता है उसको देव आयु कर्म कहते हैं ।

२ मनुष्यायु कर्म–जिस कर्म के उदय से मनुष्य की आयु तक जावे मनुष्य के शरीर रूपी बंधन में रहता है उसको मनुष्यायु कर्म कहते हैं ।

३ तिर्यंचायु कर्म–जिस कर्म के उदयसे तिर्यंच की आयु पर्यंत जीव तिर्यंच के शरीर रूपी बंधन में रहता है उसको तिर्यंच आयु कर्म कहते हैं ।

४ नरकायु कर्म—जिस के उदय से नारकी की आयु पर्यंत नारकी के शरीर रूपी बंधन में रहना पड़ता है उसको नरकायु कर्म कहते हैं ।

आयु २ प्रकार की होती है १ सोपक्रम २ निरुपक्रम ।

देव और नरक का आयु निरुपक्रम है अर्थात् विना पूरा भोगे जीव छूट नहीं सक्ता है वहां जीवको आयु पूरी भोगनी पड़ती है आयु पूर्ण होने पर मृत्यु होती है पहले नहीं होसक्ती है ।

मनुष्य और तिर्यंच का आयु सोपक्रम भी है और निरुपक्रम भी है अर्थात् कितने मनुष्य, तिर्यंच तो अपनी आयु पूरी भोग कर ही मरते हैं और कितने ही मनुष्य तिर्यंच की मृत्यु आयु पूर्ण होने पूर्व भी होजाती है जिसको अकाल मृत्यु कहा करते हैं ।

विशेष वर्णन संग्रहणी सूत्र से समझना चाहिये.

नाम कर्म और उसकी १०३ प्रकृतियां

जैसे चित्रकार अनेक प्रकार के चित्र बनाता है. वैसे ही जिस कर्म के उदय से जीव अपने अनेक नये नये शरीर आदि बनाता है उसको नाम कर्म कहते हैं उसके ४२—९३—और १०३ भेद होते हैं जिनका विवेचन आगे करते हैं ।

गइ जाइ तणु उवंगा, बंधन संघायणाणि संघयणा
संठाण वरण गंधरस, फास अणुपुव्वि विहगगई २४

१४ पिंड प्रकृतियां के नाम

१ गति, २ जाति, ३ शरीर, ४ उपांग, ५ बंधन, ६ संघातन, ७ संघयण, ८ संस्थान, ९ वर्ण, १० गंध, ११ रस, १२ स्पर्श, १३ अनुपूर्वी, १४ विहाय गति.

इनका स्वरूप आगे समझावेंगे

पिंड पयड़ित्ति चउदस, परघा उस्सास आय वुज्जोअं
अगुरु लहुतित्थ निमिणो, वघाय मिय अठ पत्तेआ

प्रथम (उपरोक्त) १४ प्रकृतियों के विभाग होते हैं इसलिये वे पिंड प्रकृतियां कहीं जातीं हैं।

८ प्रकृतियों के नाम

१ पराघात, २ उच्छ्वास, ३ आतप, ४ उद्योत, ५ अगुरु लघु, ६ तीर्थंकर, ७ निर्माण, ८ उपघात।

इन ८ प्रकृतियों के विभाग नहीं होते हैं इसलिये इनको प्रत्येक प्रकृतियां कहते हैं।

तसबायर पज्जतं, पत्तेय थिरं सुभं च सुभगं च; सुसराइज्ज जसं तस, दसगं थावर दसं तु इमं ॥ २६ ॥

त्रस दशक अथवा पुण्य प्रकृतियों के नाम ।

१ त्रस, २ बादर, ३ पर्याप्त, ४ प्रत्येक, ५ स्थिर, ६ शोक, ७ सौभाग्य, ८ सुस्वर, ९ आदेय, यश ।

ये १० प्रकृतियां पुण्य प्रकृतियां कहीं जाती है ।

इसही प्रकार इनके विरुद्ध १० स्थावर प्रकृतियां होती हैं जिनको पाप-प्रकृतियां कहते हैं ।

थावर सुहुम अपज्जं, साहारण अथिर असुभ दुभगाणि; दुस्सर अणाइज्झा जस, मिश्रनामे से अरा वीसं ॥ २७ ॥

स्थावर दशक अर्थात् १० पाप प्रकृतियों के नाम ।

१ स्थावर, २ सूक्ष्म, ३ अपर्याप्त, ४ साधारण, ५ अस्थिर, ६ अशुभ, ७ दुर्भाग्य, ८ दुस्वर, ९ अनादेय १० अपयश ।

इस प्रकार १४ पिंड प्रकृतियां ८ प्रत्येक प्रकृतियां और (१० त्रस १० स्थावर दोनों मिलाकर) २० त्रस स्थावर प्रकृतियां सब मिलकर नाम कर्म की ४२ प्रकृतियां होती है ।

पिंड प्रकृतियों के पृथक् २ ६५ भेद, प्रत्येक प्रकृतियों के ८ भेद और त्रस स्थावर प्रकृतियों के २० भेद इस प्रकार सब मिलकर नाम कर्म के ९३ भेद होते हैं।

और यदि पिंड प्रकृतियों के भेद ७५ गिने जावें तो नाम कर्म के १०३ भेद भी होते हैं।

तस चउ थिर छक्क अथिर छक्क सुह, मतिग थावर चउक्कं। सुभग तिगाइ विभासा तयाइ संखाहि पयडीहिं ॥ २८ ॥ वरणचउ अगुरु लहु चउ, तस्साइदुति चउर छक्कं मिच्चाइ। इय अन्नावि विभासा, तयाइ संखाहि पयडीहिं ॥ २९ ॥

प्रसंगोपात विभासा अर्थात् कुछ संज्ञाऐं समझा देते हैं क्योंकि ये संज्ञाऐं आगे बहुत काम में आवेगी।

त्रस चतुष्क—प्रथम ४ पुण्य प्रकृतियां अर्थात् त्रस, बादर, पर्याप्त और प्रत्येक इन चारों को मिलाकर त्रस चतुष्क कहते हैं।

स्थिर षटक—अन्तिम ६ पुण्य प्रकृतियां अर्थात् स्थिर, शुभ, सौभाग्य, सुस्वर, आदेय और यश इन छः को मिलाकर स्थिर पटक कहते हैं।

अस्थिर षटक—अन्तिम छै पाप प्रकृतियों अर्थात् अस्थिर

अशुभ, दुर्भाग्य, दुस्वर, अनादेय और अपयश इन छः को मिलाकर अस्थिर षटक कहते हैं।

स्थावर चतुष्क—प्रथम चार पाप प्रकृतियां अर्थात् स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्त और साधारण इन चार को मिला कर स्थावर, चतुष्क कहते हैं।

सूक्ष्मत्रिक—सूक्ष्म, अपर्याप्त और साधारण इन ३ प्रथम स्थावर पाप प्रकृतियों को मिलाकर सूक्ष्मत्रिक कहते हैं।

सौभाग्य त्रिक—सौभाग्य, सुस्वर और आदेय इन तीनों त्रस पुण्य प्रकृतियों को सौभाग्यत्रिक कहते हैं।

वर्ण चतुष्क—वर्ण गंध, रस और स्पर्श इन चारों को मिलाकर वर्ण चतुष्क कहते हैं।

अगुरु लघु चतुष्क—अगुरु लघु उपघात पराघात और उच्छ्वास इन ४ प्रत्येक प्रकृतियों को मिलाकर अगुरु लघु चतुष्क कहते हैं।

त्रसद्विक—त्रस और बादर दोनों को मिलाकर त्रसद्विक कहते हैं।

त्रस त्रिक—त्रस बादर और पर्याप्त इन तीनों को मिलाकर त्रसत्रिक कहते हैं।

त्रस षटक—त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक स्थिर और शुभ इन छः को मिलाकर त्रस षटक कहते हैं।

आवश्यकतानुसार आगे भी अन्य कई संज्ञाएं इसी ही प्रकार वनी हुई मिलेगी जिन से बुद्धि से विचार समझ लेना चाहिये जैसे थीनद्धी त्रिक अर्थात् पांच प्रकार की निद्रा में से थीनद्धी, प्रचला प्रचला और निद्रा निद्रा इन तीनों प्रकार की निंद्रा मिलाकर थीनद्धी त्रिक कहा जाता है।

गइ आईण उक्कमसो, चउपण पणति पण पंच छ छक्कं। पण दुग पणट्ठ चउदुग इअ उत्तर भेद पणसट्ठी ॥ ३० ॥

१४ पिंड प्रकृतियों के ६५ उत्तर भेद.

१ गति—जिस कर्म के उदय से जीव ४ गतियों में गमन करता है उसको गति नाम कर्म कहते हैं. चारों गतियों की अपेक्षा से उसके ४ ही भेद होते हैं.

२ जाति—जिस कर्म के उदय से इन्द्रिय वाले जीवों से लेकर ५ इन्द्रिय वाले जीवों की योनियों में जीव को जन्म मरण करना पड़ता है उसको जाति नाम कर्म कहते हैं. पांचों इन्द्रियों की अपेक्षा से जाति नाम कर्म भी ५ प्रकार के होते हैं.

३ शरीर—जिस कर्म के उदय से औदारिक आदि ५ प्रकार के शरीर में जीव को जन्म लेना पड़ता है उसको शरीर

नाम कर्म कहते हैं ५ प्रकार के शरीरों की अपेक्षा से शरीर के नाम कर्म के भी ५ भेद होते हैं.

४ उपांग–जिस कर्म के उदय से जीव को हस्त आदि उपांग प्राप्त होते हैं उसको उपांग नाम कर्म कहते हैं तीन उपांग की अपेक्षा से इस के ३ भेद होते हैं.

५ वंधन–जिस कर्म के उदय से जीव के औदारिक आदि शरीर के पुद्गलों का परस्पर वंधन होता है उसको वंधन नाम कर्म कहते हैं पांच प्रकार के बंधन की अपेक्षा से वंधन नाम कर्म के ५ भेद होते हैं.

६ संघातन–जिस कर्म के उदय से औदारिक आदि शरीर के पुदगल संगठित होते हैं उसको संघातन नाम कर्म कहते हैं पांच प्रकार के संघातन की अपेक्षा से ५ प्रकार के संघातन नाम कर्म होते हैं.

७ संघयण–जिस कर्म के उदय से जीव के शरीर में हड्डियों के जोड़ परस्पर मिलते हैं उसको संघयण नाम कर्म कहते हैं ६ प्रकार के संघयण की अपेक्षा से इसके ६ भेद होते हैं.

८ संस्थान–जिस कर्म के उदय से जीव के शरीर का शुभा शुभ आकार होता है उसको संस्थान नाम कर्म कहते हैं ६ प्रकार के संस्थान की अपेक्षा से इसके भी ६ भेद है।

६ वर्ण--जिस कर्म के उदय से जीव के शरीर का रंग ५ प्रकार का होता है उसका वर्ण नाम कर्म भी कहते हैं ५ प्रकार के वर्ण की अपेक्षा से वर्ण नाम कर्म के भी ५ भेद होते हैं ।

१० गंध--जिस कर्म के उदय से जीव के शरीर से सुगंधी दुर्गन्धि उत्पन्न होता है उसको गंध नाम कर्म कहते हैं २ प्रकार की गंध की अपेक्षा से गंध नाम कर्म के भी २ भेद होते हैं ।

११ रस--जिस कर्म के उदय से जीव के शरीर में रस उत्पन्न होता है उसको रस नाम कर्म कहते हैं ५ प्रकार के रस की अपेक्षा से रस नाम कर्म के ५ भेद होते हैं ।

१२ स्पर्श--जिस कर्म के उदय से जीव के शरीर को शीत उष्ण आदि स्पर्श होता है उसको स्पर्श नाम कर्म कहते हैं आठ प्रकार के स्पर्श की अपेक्षा से स्पर्श कर्म के भी ८ भेद होते हैं ।

१४ अनुपूर्वी--जिस कर्म के उदय से बेल की तरह जीव योग्य गति में पहुंचाती है उसको अनुपूर्वी नाम कर्म कहते हैं ४ गति की ४ अनुपूर्वी की अपेक्षा से अनुपूर्वी कर्म के भी ४ भेद होते हैं ।

१४ विहायो गति--जिस कर्म के उदय से जीव की शुभा शुभ चाल हो उसको विहायो गति नाम कर्म कहते हैं २ प्रकार

के चालों की अपेक्षा से विहायो गति नाम कर्म भी २ प्रकार के होते हैं ।

अडवीस जुआ तिनवइ, संते वा पनर बंधणे तिसयं, बंधण संघाय गहो तणुसु सामएण वण चउ ॥ ३१ ॥

वंध, उदीरणा और उदय की अपेक्षा से नाम कर्म की

६७ प्रकृति.

२८ और ६५ मिलाकर सब ९३ भेद हुवे किन्तु यदि ५ प्रकार के बंधन के स्थान में बंधन १५ प्रकार के समझे जावें तो २८ और ७५ मिलाकर १०३ भेद भी होते हैं.

किन्तु शरीर, बंधन और संघातन इन तीनों प्रकार के कर्मों के पांच २ भेद होने से जो १५ भेद ऊपर उनके समझे गये हैं, अब यदि शरीर, बंधन और संघातन इनको तीन प्रकार के कर्म न समझ कर एक ही प्रकार के समझ लिये जावें तो केवल ५ ही भेद होंगे इस प्रकार १० भेद कम होगये और इसी ही प्रकार वर्ण गंध रस और स्पर्श के विशेष भेद न लेकर इनको एक २ ही समझा जावे तो २० भेदों के स्थान में ४ भेद रहगये इस प्रकार १६ भेद इन में से कम होगये १०

और १६ जो २६ भेद कम हुवे तो ६३ में से २६ कम होकर करते हैं केवल ६७ प्रकृति रहती है.

शरीर, बंधन और संघातन तीनों ही एक साथ परस्पर मिले होते हैं इसलिये बंध में तीनों का एक ही में समावेश किया हैं.

इस ही प्रकार वर्ण, गंध, रस और स्पर्श इन में एकेक का ही बंध होता है इसलिये सामान्य रीति से चार भेद समझे गये हैं.

इअ सत्तट्ठी बंधो, दएअ नय सम्म मीसया बंधे। बंधु दए सत्ताए वीस दुवीस ट्ठवण्ण सयं ॥ ३२ ॥

वंध उदीरणा और उदय की अपेक्षा से आठ ही कर्मों की प्रकृतियां.

वंध, उदीरणा और उदय की अपेक्षा से नाम कर्म की तो उपर बतलाये अनुसार ६७ प्रकृति होती है.

बंध की अपेक्षा से नाम कर्म की ६७ प्रकृति और अन्य सात कर्मों की ५५ प्रकृति किन्तु दर्शन मोहनीय में बंध तो केवल मिथ्यात्व मोहनीय का होता है सम्यक् मोहनीय और मिश्र मोहनीय का नहीं होता है इससे दर्शन मोहनीय की प्रकृतियां बंध की अपेक्षा से २ कम होगई इसलिये बंध की अपेक्षा से नाम कर्म की ६७ और सात कर्मों की ५५ दोनों मिला कर १२२ जिसमें से २ दर्शन मोहनीय की प्रकृतियों में कम

होने से बाकी १२० रही इस प्रकार बंध की आठों कर्मों की मिल १२० प्रकृति होती हैं.

उदीरणा और उदय की अपेक्षा से १२२ प्रकृति ही होती हैं क्योंकि उदीरणा और उदय तो दर्शन मोहनीय में तीनों ही प्रकृतियों का होता है इस प्रकार उदीरणा और उदय की अपेक्षा से नाम कर्म की ६७ और अन्य सात कर्म कर्मों की ५५ प्रकृति इस प्रकार १२२ प्रकृतियां होती हैं.

सत्ता में तो सर्व प्रकृतियां भिन्न ही रहती हैं इसलिये नाम की १०३ प्रकृति होती हैं और अन्य सात कर्मों की ५५ होती हैं दोनों को मिलाने से आठ कर्मों की १५८ प्रकृतियां होती हैं.

नरय तिरिनर सुरगई, इगबिश्र तिश्र चउ पणिंदि जाइश्रो। श्रोराल विउव्वाही, तेश्र कम्मण पण सरीरा ॥ ३३ ॥

गति नाम कर्म के ४ भेद.

१ नारकी–जिस कर्म के उदय से जीव नारकी जीवयोनि में उत्पन्न होता है उसको नरकगति नाम कर्म कहते हैं.

२ तिर्यंच–जिस कर्म के उदय से जीव तिर्यंच जीव योनि में उत्पन्न होता है उसको तिर्यंचगति नाम कर्म कहते हैं.

३ मनुष्य–जिस कर्म के उदय से जीव मनुष्य जीवयोनि

में उत्पन्न होता है उसको मनुष्यगति नाम कर्म कहते हैं.

४ देव—जिस कर्म के उदय से जीव देव जीवयोनि में उत्पन्न होता है उसको देवगति नाम कर्म कहते हैं.

जाति नाम कर्म के ५ भेद।

१ एकेंद्रिय—जिस कर्म के उदय से जीव एकेंद्रिय योनि में उत्पन्न होता है और उसको केवल १ इंद्रिय ही प्राप्त होती है उसको एकेंद्रिय जाति नाम कर्म कहते हैं।

२ बेंद्रिय—जिस कर्म के उदय से जीव बेंद्रिय योनि में उत्पन्न होता है और उसको केवल २ ही इंद्रिय प्राप्त होती है उसको बेंद्रिय जाति नाम कर्म कहते हैं।

३ त्रींद्रिय—जिस कर्म के उदय से जीव त्रींद्रिय योनि में उत्पन्न होता है और उसको केवल ३ ही इंद्रिय प्राप्त होती है उसको त्रींद्रिय जाति नाम कर्म कहते हैं।

४ चौरींद्रिय—जिस कर्म के उदय से जीव चौरींद्रिय योनि में उत्पन्न होता है और उसको केवल ४ ही इन्द्रियें प्राप्त होती है उसको चौरींद्रिय जाति नाम कर्म कहते हैं।

५ पंचेंद्रिय—जिस कर्म के उदय से जीव पंचेंद्रिय जीव योनि में उत्पन्न होता है और उसको ५ इन्द्रियें प्राप्त होती है उसको पंचेंद्रिय जाति नाम कर्म कहते हैं।

शरीर नाम कर्म के ५ भेद ।

१ औदारिक–जिस कर्म के उदय से जीव को औदारिक शरीर प्राप्त होता है उसको औदारिक शरीर कहते हैं हड्डी, मांस, रक्तादि का बना हुवा शरीर औदारिक शरीर नाम कर्म कहलाता है ऐसा शरीर तिर्यंच और मनुष्य को प्राप्त हुआ करता है तिर्यंच को इस शरीर में मुक्ति नहीं प्राप्त होसक्ती है किंतु मनुष्य को इस शरीर में मुक्ति भी प्राप्त होसक्ती है और तीर्थंकरादि पद भी प्राप्त होसक्ता है.

२ वैक्रिय–जिस कर्म के उदय से जीव को ऐसा शरीर मिले जिससे भिन्न २ आकार रूप क्रिया होसक्ती हो उसको वैक्रिय शरीर नाम कर्म कहते हैं इस शरीर में हड्डी मांसादि नहीं होते हैं । देवता और नारकी जीवों को वैक्रिय शरीर स्वाभाविक होता है किंतु तिर्यंच और मनुष्य को लब्धि द्वारा प्राप्त होता है ।

३ आहारक–जिस कर्म के उदय से जीव को ऐसा शरीर प्राप्त हो जिससे चौदह पूर्वधारी मुनि की अवस्था में तीर्थंकर की ऋद्धि देखने को नवीन शरीर उत्पन्न कर सके उसको आहारक शरीर नाम कर्म कहते हैं आहारक शरीर केवल अप्रमादी मुनि अवस्था में प्राप्त हो सक्ता है इस का परिमाण १ हाथ (कलाई से कोहनी तक) का होता है ।

४ तेजस–जिस कर्म के उदय से जीव को ऐसा शरीर प्राप्त हो जिससे आहारादि पाचन क्रिया हो और जिससे तेजो-लेश्या की उत्पत्ति भी होती हो उसको तेजस शरीर नाम कर्म कहते हैं तेजस शरीर सूक्ष्म रूप में होता है और कर्म धारी सर्व जीवों के साथ होता है।

५ कार्मण–जिस कर्म के उदय से जीव को ऐसा शरीर मिले जिससे कर्म प्रदेशों का समूह जीव प्रदेश के साथ क्षीर नीर के समान मिले उसको कार्मण शरीर नाम कर्म करते हैं कार्मण शरीर सूक्ष्मरूप में होता है और प्रत्येक कर्म धारी जीव के साथ होता है कर्म परमाणु से उत्पन्न होने के कारण भी इसको कार्मण कहते हैं.

इस प्रकार कम से कम ३ और विग्रहगति में दो शरीर तो प्रत्येक कर्मधारी जीव के साथ होते हैं विशेष वर्णन संग्रहणी सूत्र से जान लेना चाहिये.

बाहूरु पिट्ठि सिर उर, उअरंग उवंग अंगु-ली पमुहा । सेसा अंगोवंगा, पढम तणु ति गस्सु वंगाणि ॥ ३४ ॥

उपांग नाम कर्म के ३ भेद.

औदारिक, वैक्रिय और आहारक इन ३ शरीरों में आठ

अंग और उपांग होते हैं अतएव ३ शरीरों की अपेक्षा से ३ प्रकृति अंग उपांग की होती है.

१ औदारिक शरीर अंगोपांग. २ वैक्रिय शरीर अंगोपांग. ३ आहारक शरीर अंगोपांग.

तेजस और कार्माण शरीरों में अंग उपांग आदि नहीं होते हैं.

२ भुजा २ जंघा १ पीठ १ छाती १ मस्तक और १ पेट ये आठ अंग कहे जाते हैं.

अंगुली आदि को उपांग कहते हैं और हस्त आदि की रेखाओं को अंगोपांग कहते हैं.

जिस कर्म के उदय से जीव को शरीर के साथ अंग उपांग आदि प्राप्त होते हैं उसको उपांग नाम कर्म कहते हैं.

ऊपर बतलाये अनुसार उपांग नाम कर्म ३ प्रकार के होते हैं.

१ औदारिक उपांग नाम कर्म २ वैक्रिय उपांग नाम कर्म ३ आहारक उपांग नाम कर्म।

ओरलाइ पुग्गलाणं, निवद्ध वज्झं तयाण संबंधं, जं कुणइ जउ समं तं, बंधण मुरलाइ तणु नामा ॥ ३५ ॥

बंधन नाम कर्म के ५ भेद.

पूर्व संचित और नवीन संचित कर्मों का औदारिक शरीरों

के साथ लाख और शाल की भांति युक्त करे उस कर्म का नाम वंधन नाम कर्म है.

पांच प्रकार के शरीरों की अपेक्षा से नवीन और पूर्वकर्मों के सम्बन्ध होने से ५ प्रकार के बंधन नाम कर्म होते हैं—१ औदारिक बंधन नाम कर्म—२ वैक्रिय बंधन नाम कर्म—३ आहारक बंधन नाम कर्म—४ तैजस बंधन नाम कर्म—५ कार्मण बंधन नाम कर्म।

औदारिक वैक्रिय और आहारक इन ३ शरीरों का बंध आरंभ में सर्व (पूर्ण) बंध होता है किन्तु पश्चात् शरीर पूर्ण धारण कर वहांतक देश (थोड़े अंशमें) बंध होता है।

तेजस और कार्मण का निरंतर देशबंध होता है क्योंकि वे नये नहीं वनते हैं इसलिये उनका प्रारंभ समय भी नहीं है।

मृत्यु समय भी तेजस और कार्मण शरीर जीव के साथ जाते हैं और साथ रहकर कर्मानुसार औदारिक आदि शरीर उत्पन्न करते हैं।

जं संघायइ उरलाइ पुग्गले तणगणंव दंताली, तं संघायं बंधण मिव तणु नामेण पंचविहं ॥ ३६ ॥

संघातन नाम कर्म का स्वरूप ।

जिस कर्म से औदारिक आदि शरीरों के बंधन होने के लिये बंधन के पूर्व कर्म पुद्गल इकट्ठे होते हैं जैसे कि दंताली से तृण समूह इकट्ठा होता है उस कार्य को पांच प्रकार के शरीरों की अपेक्षा से पांच प्रकार के संघातन नाम कर्म जानना चाहिये ।

१ औदारिक संघातन नाम कर्म. २ वैक्रिय संघातन नाम कर्म. ३ आहारक संघातन नाम कर्म. ४ तैजस संघातन नाम कर्म. ५ कार्मण संघातन नाम कर्म ।

ओराल विउव्वा हारयाणं सग तेअ कम्म जुत्ताणं, नव बंधणाणि इअर; दु सहिआणि तिन्नि तेसिंच ॥ ३७ ॥

प्रकारान्तर से १५ प्रकार का बंधन.

औदारिक, वैक्रिय और आहारक इन ३ शरीरों का उस ही शरीर का उसही शरीर से युक्त होने से ३ प्रकार के बंधन होते हैं और इन ३ शरीरों को तैजस और कार्मण के साथ के साथ प्रत्येक को युक्त करने से तीन २ अर्थात् छः बंधन होते हैं इस प्रकार ९ प्रकार के बंधन होते हैं.

और तेजस और कार्मण के साथ दोनों को साथ युक्त करने से तीन २ अर्थात् छः प्रकार के बंधन और होते हैं इस प्रकार १५ प्रकार के बंधन होते हैं. नीचे १५ प्रकार के बंधन को पृथक् २ नाम बतलाते हैं:—

१ औदारिक औदारिक	२ वैक्रिय वैक्रिय
३ आहारक आहारक	४ औदारिक तेजस
५ वैक्रिय तेजस	६ आहारक तेजस
७ औदारिक कार्मण	८ वैक्रिय कार्मण
९ आहारक कार्मण	१० औदारिक तेजस कार्मण
११ वैक्रिय तेजस कार्मण	१२ आहारक तेऊसकार्मण
१३ तेजस तेजस	१४ कार्मण कार्मण
१५ तेजस कार्मण.	

कितने ही ग्रन्थों में निम्नलिखित अनुसार भी १५ प्रकार के बंधन बतलाये हैं:—

१ औदारिक औदारिक	२ वैक्रिय वैक्रिय
३ आहारक आहारक	४ तेजस तेजस
५ कार्मण कार्मण	६ औदारिक तेजस
७ वैक्रिय तेजस	८ आहारक तेजस
९ कार्मण तेजस	१० औदारिक कार्मण

११ वैक्रिय कार्मण   १२ आहारक कार्मण
१३ औदारिक तेजस कार्मण १४ वैक्रिय तेजस कार्मण
१५ आहारक तेजस कार्मण

संघयण मट्ठि निचओ. तं छद्धा वज्जरि-सह नारायं। तहय रिसह नारायं, नारायं अद्ध नारायं ॥ ३८ ॥

संघयण नाम कर्म के ६ भेद।

जिस कर्म के उदय से हड्डियों का मिलाप होता है उस को **संघयण** नाम कर्म कहते हैं इसके ६ भेद हैं।

१—वज्र ऋषभ नाराच संघयण जिस कर्म के उदय से २ हड्डियें मर्कट बंध की भांति संयुक्त हुई हों और १ हड्डी ऊपर पटी की भांति लगी हो और इन तीनों में १ हड्डी कीली की भांति लगी हुई हो ऐसा दोनों तरफ होता है उसको वज्र ऋषभ नाराच संघयण नाम कर्म कहते हैं.

२ ऋषभ नाराच संघयण—इसही तरह दोनों हड्डी मर्कट बंध की भांति युक्त हुई हो और १ हड्डी ऊपर पटी की तरह लगी हो किन्तु हड्डी की कोई कीली न लगी हो जिस कर्म

के उदय से ऐसा संघयण (हड्डी की मिलाप) हो उसको ऋषभनाराच संघयण नाम कर्म कहते हैं.

३ नाराच संघयण—हड्डियों को मर्कट बंध दोनों तरफ हों किन्तु न पटी हो न कीली हो ऐसा संघयण जिस कर्म से हो उसको नाराच संघयण नाम कर्म कहते हैं.

४ अर्द्धनाराच संघयण—एक तरफ हड्डियों का मर्कट बंध हों और दूसरी तरफ केवल कीली हो ऐसा संघयण जिस कर्म से हो उसको अर्द्धनाराच संघयण नाम कर्म कहते हैं.

कीलिअ छेवट्ठं इह रिसहो, पट्टोअ कीलि आवज्जं । उभओ मक्कड़ बंधो नारायं इम मुरालंगे ॥ ३६ ॥

५ कीलिका संघयण—दो हड्डियों के बीचमें पटा न हो केवल १ कीली हो जिस कर्म से ऐसा संघयण हो उसको कीलिका संघयण कहते हैं ।

६ सेवार्त्त संघयण—केवल २ हड्डियें पास पास लगी हो ऐसे संघयण का नाम सेवार्त्त संघयण है और जिस कर्म से ऐसा संघयण प्राप्त हो उसको सेवार्त्त नाम कर्म कहते हैं ।

वैक्रिय शरीर में, आहारक शरीर में, देवता के शरीर में

नारकी के शरीर में, १ इंद्रिय के शरीर में संघयण (हड्डी का मिलाप) नहीं होता है।

सम चउरसं निग्गो हसाइ खुज्झाइ वामणं हुंडं सठाणां वरण किएह नील लोहिय हलिद्द सिआ ॥ ४० ॥

संस्थान नाम कर्म के ६ भेद।

जिस कर्म के उदय से शरीर की आकृति बनती है उसको संस्थान नाम कर्म कहते हैं संस्थान नाम कर्म ६ प्रकार के होते हैं।

१ सम चतुरस्रसंस्थान—जिस कर्म के उदय से (पालथी लगाकर बैठने से) दाहिने कंधेसे बांये गोडे तक का अंतर, दाहिने गोडेसे बांये कंधे तक का अंतर, दाहिने गोड़े से बांये गोडे तक का अंतर और पालथी से मस्तक तक का अंतर ये चारों ही अंतर सम अर्थात् बराबर हों अथवा सामुद्रिक शास्त्रानुसार शरीर सुंदर हो उसको सम चतुरस्र संस्थान नाम कर्म कहते हैं।

२ न्यग्रोध संस्थान—जिस कर्म के उदय से न्यग्रोध (वट) के सदृश ऊपर का भाग मात्र सुंदर हो उसको न्यग्रोध संस्थान नाम कर्म कहते हैं.

३ सादि संस्थान–जिस कर्म के उदय से नाभि नीचे का भाग मात्र सुंदर और ऊपर का सुंदर न हो उसको सादि संस्थान नाम कर्म कहते हैं.

४ कूब्ज संस्थान–जिस कर्म के उदय से हाथ, पैर, मुख, गर्दन सुंदर हों और छाती पेट और पीठ सुंदर न हो उसको उसको कूब्ज संस्थान नाम कर्म कहते हैं.

५ वामन संस्थान–जिस कर्म के उदय से हाथ पैर से अपूर्ण हो और सर्व अंग हो उसको वामन संस्थान नाम कर्म कहते हैं.

६ हुंड संस्थान–जिस कर्म के उदय शरीर के सर्व अंग न सुंदर हो न उपयोगी हो किंतु खराब हो उसको हुंड संस्थान नाम कर्म कहते हैं.

वर्ण नाम कर्म के ५ भेद.

जिस कर्म के उदय से शरीर को वर्ण भिन्न २ वर्ण का होता है उसको वर्ण नाम कर्म कहते हैं वर्ण नाम कर्म के ५ भेद हैं.

१ कृष्णवर्ण–जिस कर्म के उदय से शरीर शाही या गुली जैसा काला हो उसको कृष्णवर्ण नाम कहते हैं.

२ नीलवर्ण–जिस कर्म से तोते के पंख जैसा शरीर हरा हो उसको नीलवर्ण नाम कर्म कहते हैं.

३ रक्तवर्ण–जिस कर्म से हींगलु जैसा लालवर्ण शरीर का हो उसको रक्तवर्ण नाम कर्म कहते हैं.

४ हरिद्रक पीतवर्ण–जिस कर्म से शरीर हलदी जैसा पीला वर्ण का हो उसको हरिद्रक पीतवर्ण नाम कर्म कहते हैं.

५ श्वेतवर्ण–जिस कर्म के उदय से शरीर शंख जैसा सुफेद होवे उसको श्वेतवर्ण नाम कर्म कहते हैं.

सुरही दुरही रसा पण तित्त कडु कसाय अंबिला महुरा। फासा गुरु लहु मिउ खरसी उण्ह सिणिद्ध रुक्खट्ठा ॥ ४१ ॥

गंध नाम कर्म के दो भेद.

जिस कर्म के उदय से जीव के शरीर से गंध निकलती है उसको गंध नाम कर्म कहते हैं इसके २ भेद हैं.

सुरभिगंध–जिस कर्म के उदय से शरीर में से सुगन्धि निकलती हो उसको सुरभिगंध नाम कर्म कहते हैं जैसे तीर्थंकर भगवान के शरीर में से, पद्मिनी स्त्री के शरीर में से.

२ दुरभिगंध–जिस कर्म के उदय से शरीर में से दुर्गंधि निकलती है उसको दुरभिगंध नाम कर्म कहते हैं जैसे लशुन में से दुर्गंधि निकलती है.

रस नाम कर्म के ५ भेद.

जिस कर्म के उदय से जीव के शरीर में रस आदि हों उसको रस नाम कर्म कहते हैं इसके ५ भेद.

१ तिक्तरस जिस कर्म के उदय से शरीर का रस सूंठ और काली मिर्च जैसा चरका हो उसको कटुरस नाम कर्म कहते हैं।

२. कटुरस–जिस कर्म के उदय से शरीर र रस चिरायते जैसा कड़वा हो उसको कटुरस नाम कर्म कहते हैं।

३ कषायलरस–जिस कर्मके उदय से शरीर रस हर्डे बहेड़ा जैसा कसायला हो उसको कषायल रस नाम कर्म कहते है।

४ आमलरस–जिस कर्म के उदय से शरीर नींबू और इ-मली जैसा खट्टा हो उसको आम्लरस नाम कर्म कहते हैं।

५ मधुरस=जिस कर्म के उदय जीवका शरीर रस से लड्डी, मधु और शक्कर जैसा मीठा हो उसको मधुरस नाम कर्म कहते है।

व्यवहार में लवण रस भी एक प्रकार का रस कहा जाता है किन्तु वो रस अन्य प्रकार के रसों के मिश्रण से बन जाता है इस लिये कर्म प्रकृति में नहीं लिया गया है विशेष वर्णन गीतार्थों से जानना चाहिये।

स्पर्श नाम कर्म के ८ भेद।

जिस कर्म के उदय से जीव के शरीर का विविध प्रकार

का स्पर्श होता है उसको स्पर्श नाम कर्म कहते हैं।

१ गुरुस्पर्श जिस कर्म के उदय से शरीर लोहे जैसा भारी हो और नीचे ही दवता हो उसको गुरुस्पर्श नाम कर्म कहते हैं।

२ लघुस्पर्श जिस कर्म के उदय से शरीर आक के तूल की तरह हलका होकर उड़ता हो उसको लघुस्पर्श कर्म कहते हैं।

३ मृदु स्पर्श–जिस कर्म के उदय से शरीर मक्खन जैसा मुलायम हो उसको मृदु स्पर्श नाम कर्म कहते हैं.

४ वरसठ स्पर्श–जिस कर्म के उदय से शरीर गाय की जीभ जैसा खरदरा हो उसको वरसठ स्पर्श नाम कर्म कहते हैं.

५ शीत स्पर्श–जिस कर्म के उदय से शरीर वर्फ जैसा ठंडा हो उसको शीत स्पर्श नाम कर्म कहते हैं.

६ उष्ण स्पर्श–जिस कर्म के उदय से शरीर अग्नि जैसा उष्ण हो उसको उष्ण स्पर्श नाम कर्म कहते हैं.

७ स्निग्ध स्पर्श–जिस कर्म के उदय से शरीर घी तेल जैसा चिकना हो उसको स्निग्धस्पर्श नाम कर्म कहते हैं.

८ रुक्षस्पर्श–जिस कर्म के उदय से शरीर राख जैसा लूखा हो उसको रुक्ष स्पर्श नाम कर्म कहते हैं.

नील कसिणं दुगंधं तित्तं कडुअं गुरुं खरं

रुक्खं ॥ सीअं च असुह नवगं, इक्कारसगं सुभं सेसं ॥ ४२ ॥

वर्ण, गंध, रस और स्पर्श की २० प्रकृतियों में ९ अशुभ कौनसी और ११ शुभ कौनसी होती हैं सो बतलाते हैं.

५ वर्णों में नीला और काला अशुभ होते हैं शेष रक्त पीला सुफेद वर्ण शुभ होते हैं.

२ गंध में दुर्गंधि अशुभ और सुगंधि शुभ होती है.

५ रसों में कटु और तिक्त (चरका) अशुभ होते हैं शेष कषायल, आम्ल और मृदु शुभ होते हैं.

८ स्पर्शों में गुरु, बरसठ, और शीत ये चारों अशुभ होते हैं और शेष लघु, मृदु, उष्ण और स्निग्ध शुभ होते हैं.

उपरोक्त लोक व्यवहार से बतलाया गया है किन्तु तीर्थंकर भगवान के जो श्याम रंग हो वह भी शुभ समझा जाता है इस ही प्रकार पुण्यवान पुरुषों के लिये प्रायः सर्व प्रकृतियों में होसकता है.

चउह गइव्व णुपुव्वी गइ पुव्विदुगं तिगं निआउजुअं ॥ पुव्वी उदओ वक्के, सुह असुह वसुट्ट विहग गइ ॥ ४३ ॥

अनुपूर्वी कर्म के ४ भेद.

जैसे नाथ के द्वारा बैल इच्छित स्थान पर लेजाया जाता है वैसे ही जिस कर्म द्वारा जीव चारों गति में पहुंचता है उस को अनुपूर्वी कर्म कहते है। यह कर्म एक गति से दूसरी गति में जाते हुवे मार्ग में जीव को उदय में आता है.

चारों गतियों की अपेक्षा से अनुपूर्वी कर्म के ४ भेद होते हैं.

१ देवानुपूर्वी—जिस कर्म द्वारा किसी गति से जीव देवगति में पहुंचते हैं उसको देवानुपूर्वी कर्म कहते हैं.

२ मनुष्यानुपूर्वी—जिस कर्म द्वारा किसी गति से जीव मनुष्यगति में पहुंचते हैं उसको मनुष्यानुपूर्वी कर्म कहते हैं.

३ तिर्यंचानुपूर्वी—जिस कर्म द्वारा किसी गति से जीव तिर्यंच गति में पहुंचता है उसको तिर्यंचानुपूर्वी कर्म कहते हैं.

४ नरकानुपूर्वी—जिस कर्म द्वारा किसी गति से जीव नरक गति में पहुंचता है उसको नरकानुपूर्वी कर्म कहते हैं.

कुछ संज्ञाएं बतलाते हैं। जहां द्विक शब्द आवे वहां गति और अनुपूर्वी दोनों जानना चाहिये। जहां त्रिक शब्द आवे वहां गति, अनुपूर्वी और आयु तीनों जानना चाहिये जैसे.

तिर्यंचद्विक—अर्थात् तिर्यंच गति और तिर्यंच अनुपूर्वी.

तिर्यंचत्रिक—अर्थात् तिर्यंचगति, तिर्यंचानुपूर्वी और तिर्यंच आयु

एक गति त्याग करके दूसरी गति में जीव जावे तब मार्ग में अनुपूर्वी कर्म, उत्पन्न हो तब गति कर्म, जितने काल तक उस (नवीन) योनि में रहे तब तक आयु कर्म, का उदय रहता है।

अनुपूर्वी नाम कर्म का उदय जहां दो समयादि की विग्रह गति होती है वहां होता है चारों गति में वक्रगति होती है इसलिये चारों गति में जाते समय अनुपूर्वी कर्म का उदय रहता है देवगति में जाते देवानुपूर्वी का मनुष्य गति में जाते मनुष्यानु पूर्वी का इत्यादि।

जहां एक ही समय में सम श्रेणी में जीव जाता है वहां अनुपूर्वी की आवश्यक्ता नहीं अर्थात् जब जीव मोक्ष में जाता है तब अनुपूर्वी नहीं होती है अर्थात् जहां जीव सीधी गति (चाल) से दूसरी गति में जाता है तब अनुपूर्वी नहीं होती है। यह गति मोक्ष की है पिछे संसार भ्रमण नहीं रहता।

विहायो गति नाम कर्म के २ भेद।

जिस कर्म के उदय से जीवकी शुभा शुभ चाल होती है उस को विहायो गति नाम कर्म कहते हैं।

१ शुभ विहायगति—जिस कर्म के उदय से जीव (शरीर धारी) शुभ चाल से चलता है उसको शुभ विहायगति नामकर्म कहते हैं जैसे बैल की चाल सीधी होती है मनुष्य की सीधी चाल होती है हाथी की सीधी चाल होती है।

२ अशुभविहायोगति—जिस कर्म के उदय से जीव अशुभ चाल से चलता है उसको अशुभ विहायो गति नाम कर्म कहते है जैसे ऊंट टेढा चला करता है मनुष्य भी कभी टेढा चला करता है जब कि पैर टकरा जाते हैं।

विहाय शब्द से अर्थ आकाश का होता है गति से चाल का अर्थ होता है आकाश में ही गमन किया जाता है इसको विहाय गति कहते हैं यह गति का उपयोग त्रस जीव ही करते हैं. पिंड प्रकृतियों का विषय समाप्त होचुका अब प्रत्येक प्रकृतियों का स्वरूप बतलाते हैं.

परघा उदया पाणी परेसिं बलिणंपि होइ दुद्धरिसो, उससिण लद्धिजुत्तो, हवेइ ऊसास नाम वसा ॥ ४४ ॥

पराघात नाम कर्म का स्वरूप ।

जिस कर्म के उदय से जीव का प्रभाव उससे अधिक प्रतिभाशाली और अधिक शक्तिमान आदि पर भी अधिक पड़ता है शत्रु भी उस से भय भीत होते हैं उस से किसी भी प्रकार का वाद करने को किसी का साहस नहीं होता हैं उस को परा घात नाम कर्म कहते हैं.

जिस कर्म के उदय से जीव श्वासो श्वास सुख पूर्वक लेता

है उस को उच्छ्वास नाम कर्म कहते हैं

उच्छ्वास नाम कर्म का स्वरूप।

उच्छ्वास प्रकृति लब्धि आश्रित होती है और इस को शास्त्रों में क्षायोपशमिक बतलाया है किन्तु वो वचन प्रायिक होने से उदयिक भी बतलाया है उदयिक और क्षायोपशमिक का भेद चतुर्थ कर्म ग्रन्थ में विस्तार से बतलावेंगे।

उच्छ्वास लब्धि के समान आहारक लब्धि और वैक्रिय लब्धि इन को भी उदयिक जानना चाहिये।

रवि बिंबेउ जिअंगं, तावजुअं आयवाउ न-उ जलणे, जमुसिण फासस्स तहिं, लोहिय वरणस्स उदउत्ति॥ ४५॥

आतप नाम कर्म का स्वरूप।

जिस कर्म के उदय से जीव के शरीर से उष्ण प्रकाश निकलता है उसको आतप नाम कर्म कहते हैं जैसे कि सूर्य मंडल में रत्न के बादर एकेंद्रिय पर्याप्त पृथ्वी काय के जीव हैं उनका शरीर शीतल है तथापि उनके शरीर से उष्ण प्रकाश निकलता है जिस से अन्य जीवों को ताप उत्पन्न होता है यह आतप नाम कर्म का उदय है।

किन्तु अग्नि काय के जीवों का शरीर उष्ण होने पर भी

और शरीर का प्रकाश भी उष्ण होने पर भी उनको आतप नाम कर्म का उदय नहीं है कारण कि उनके शरीर का ताप जितनी २ दूर बढें इतनी कम होती जाती हैं इसलिये उनको उष्ण स्पर्श नाम कर्म और रक्त वर्ण नाम कर्म का उदय है।

अणुसिण पयास रूवं, जिअंग मुज्जोअए इहुज्जोआ, जइ देवुत्तर विक्किअ, जोइस खज्जो-अ माइव्व ॥ ४६ ॥

उद्योत नाम कर्म का स्वरूप।

जिस कर्म प्रकृति से जीव के शरीर में से शीत प्रकाश निकलता है उसको उद्योत नाम कर्म कहते हैं।

देवताओं को उद्योत नाम प्रकृति भव आश्रित होती है और जब कहीं अन्यत्र जाते हैं और नया शरीर बनाते हैं तब भी उन को उद्योत नाम प्रकृति के उदय से उनके शरीर से शीतप्रकाश निकलता है।

लब्धिवंत मुनिराज भी जब नया शरीर ग्रहण करते हैं तो उद्योत नाम कर्म के उदय से उनके शरीर से शीतप्रकाश निकलता है।

सूर्य के सिवाय चंद्र, ग्रह, नक्षत्र और तारा आदि के विमानों में जो रत्न के जीव हैं उनके शरीर में भी उद्योत नाम

कर्म से शीतप्रकाश निकलता है इस ही तरह खजवा (आगिया) आदि जन्तुओं के शरीर से और अनेक वनस्पति के जीवों के शरीर से उद्योत नाम कर्म से शीतप्रकाश निकलता है।

अंगं न गुरु न लहुअं, जायइ जीवस्स अगुरु लहु उदया, तित्थेण तिहु अणस्सवि पुज्झोसे उदओ केवलिणो ॥ ४७ ॥

अगुरु लघु कर्म का स्वरूप.

जिस कर्म के उदय से शरीर न तो इतना भारी हो कि हलचल न सके न इतना हलका हो कि वायु में उड़जावे किंतु मध्यस्थ हो जिससे इच्छानुसार गमन कर सके उस कर्म को अगुरु लघु कर्म कहते हैं.

तीर्थंकर नाम कर्म का स्वरूप.

जिस कर्म के उदय से जीव को तीर्थंकर पद प्राप्त होता है उसको तीर्थंकर नाम कर्म कहते हैं.

तीर्थंकर प्रत्येक अवसर्पिणी और उत्सार्पिणी में चोवीस चौवीस होते हैं ये तीसरे और चौथे आरे में होते हैं इनका जन्म क्षात्रियादि उत्तम कुल में होता है इनके माता के उदर में आने पर इन्द्रादि देव आकर इनकी स्तुति वंदनादि करते हैं इनके जन्म समय इन्द्रादि देव मेरु पर्वत पर जन्माभिषेक करते हैं

पश्चात् छद्मस्थ अवस्था में रहते हुवे भोगावली कर्म बाकी हो, तो विवाहादि भी करते हैं पश्चात् दान द्वारा दरिद्रियों के दुख दूर कर स्वयं दिक्षा ग्रहण करते हैं पश्चात् जब उनको केवलज्ञान होता है तब देवता समवसरण की रचना करते हैं जहां देव देवी मनुष्य स्त्री तिर्यंच आकर उनका बहुमान करते हैं और उपदेश सुन सम्यक्त्व प्राप्त करते हैं कितनेक मनुष्य स्त्री उनके पास दीक्षा लेकर साधु साध्वी होते हैं जिनको तीर्थंकर यथायोग्य गणधर, आचार्य उपाध्याय साधु साध्वी आदि पद देते हैं और देश विरति धर्म ग्रहण करने वालों को श्रावक श्राविकादि पद देते हैं इस प्रकार परम पूज्य परमात्मा जगदीश्वर तीर्थंकर भगवान का धर्मोपदेश सुनकर अनेक जीव मोक्ष जाते हैं अनेक जीवों को केवलज्ञान और अनेक जीवों को सम्यक्त्व प्राप्त होता है। साधु साध्वी श्रावक श्राविका इस प्रकार चतुर्विध संघरूपी जंगम तीर्थ की स्थापना करने से इनको तीर्थंकर कहा जाता है यही परम ईश्वर (परमेश्वर) है जो कि सच्चे ज्ञान का उपदेश करते हैं इस भव समुद्र से स्वयं तरते हैं अर्थात् मुक्त होकर सिद्ध पद प्राप्त करते हैं और अनंत जीवों को तारते हैं विशेष गुरु गम से जानकर इन्हीं तीर्थंकर वीतराग भगवान का ध्यान वंदन स्तवन पूजन आदि करना चाहिये जिससे हमें भी वही वीतरागता प्राप्त होकर हमारी भी मुक्ति हो। इन्हीं के

वचन निर्दोष परस्पर अविरोधी और प्राणी मात्र के हितकारी हैं जिनको कि जैनसूत्र अर्थात् जिनेंद्र भगवान कथित शास्त्र कहते हैं इस ईश्वरीयज्ञान को गुरुगम से अवश्य पढना चाहिये.

अंगोवंग निश्रमणं, निम्माणं कुणइ सुत्त-हारसमं, उवधाया उव हम्मइ, सतणु अवयव लंबि गाईहिं ॥ ४८ ॥

निर्माण नाम कर्म.

जिस कर्म के उदय से शरीर के भाग यथोचित् युक्त होकर शरीर का निर्माण होजाता है उसको निर्माण नाम कर्म कहते हैं जैसे कि खाती द्वारा लकड़ी के भाग यथावत् युक्त होकर कुरसी वन जाती है.

उपघात नाम कर्म.

जिस कर्म के उदय से जीव अपने ही अंगों के कारण दुःख पाता है उसको उपघात नाम कर्म कहते हैं जैसे कि किसी को एक अधिक जीभ वा अंगुली हो चोर दंत हो वा रसौली हो.

विति चउ पणिंदि तस्सा, बायरओ बायरा जिआ थूला, निअ निअ पज्भति जुआ, पज्जता लद्धि करणेहिं ॥ ४६ ॥

अव त्रस दशक और स्थावर दशक का साथ साथही वर्णन करते हैं.

त्रस दशक.	स्थावर दशक.
१ त्रसकाय	२ स्थावरकाय
३ बादर	४ सूक्ष्म
५ पर्याप्त	६ अपर्याप्त
७ प्रत्येक	८ साधारण
९ स्थिर	१० अस्थिर
११ शुभ	१२ अशुभ
१३ सौभाग्य	१४ दुर्भाग्य
१५ सुस्वर	१६ दुःस्वर
१७ आदेय	१८ अनादेय
१९ कीर्त्तियश	२० अपयश

१ त्रस नाम कर्म–जिस कर्म के उदय से त्रसकाय प्राप्त हो उसको त्रस नाम कर्म कहते हैं. त्रसकाय उसको कहते हैं जिसकाय के जीव त्रास पाकर हट जावे और उसका त्रास दूसरों के देखने में भी आवे, बेंद्रिय, तेंद्रिय, चौरींद्रिय पंचेंद्रिय जीव सब त्रसकाय हैं.

२ स्थावर नाम कर्म–जिस कर्म के उदय से स्थावरकाय प्राप्त हो उसको स्थावर नाम कर्म कहते हैं. स्थावरकाय उसको कहते हैं जिसकाय में दुःख पाकर भी वहीं स्थिर रहना पड़े जलकाय, वायुकाय, अग्निकाय वनस्पतिकाय और पृथ्वीकाय

के एकेंद्रिय जीव स्थावरकाय है.

३ वादर नाम कर्म—जिस कर्म के उदय से जीव को ऐसा शरीर मिले जो दूसरों के देखने में आसके उसको वादर नाम कर्म कहते हैं.

४ सूक्ष्म नाम कर्म जिस कर्म के उदय से जीव को ऐसा शरीर मिले जो दूसरों के देखने में नहीं आसके उसको सूक्ष्म नाम कर्म कहते हैं. ५ प्रकार के एकेंद्रिय जीव जो सूक्ष्म होते हैं वे एकेंद्रिय जीव १४ राजलोक में सर्वत्र व्याप्त है जो चर्म चक्षु से नहीं दिखते हैं विशेष अधिकार जीव विचार से जानना चाहिये.

५ पर्याप्त नाम कर्म—जिस कर्म के उदय से आरम्भ की हुई पर्याप्ति पूर्ण किये बिना ही जीव की मृत्यु नहीं हो उसको पर्याप्ति नाम कर्म कहते हैं.

पुद्गलों के उपचय से पुद्गल परिणमन की जो शक्ति होती है उसको पर्याप्ति कहते हैं. पर्याप्ति सामान्य रीति से दो प्रकार की होती है:—

अ. लब्धि—जो जीव की पर्याप्ति पूर्ण किये पश्चात् मृत्यु हो उसको लब्धि पर्याप्ति कहते हैं.

ब. करण—जो जीव की पर्याप्ति पूर्ण किये पश्चात् मृत्यु हो वा न हो किन्तु पर्याप्ति पूर्ण हुवे पश्चात् करण पर्याप्ति कहते हैं.

विशेष रीति से पर्याप्ति ६ प्रकार की होती है जिस में

एकेंद्रिय को ४ पर्याप्ति होती हैं, विकलेंद्रिय और असंज्ञी पंचेंद्रिय को ५ पर्याप्ति होती है और संज्ञी पंचेंद्रिय को ६ पर्याप्ति होती है.

पर्याप्ति के ६ भेद इस प्रकार होते हैं।

(क) आहार पर्याप्ति–जिस कर्म शक्ति से दूसरी गति में जाने के समय जीव नवीन पुद्गल ग्रहण करता है उसको आहार पर्याप्ति कहते हैं।

(ख) शरीर पर्याप्ति–जिस कर्म शक्ति से आहार ग्रहण पश्चात् जीव सात धातु के रूपमें शरीर बनाता है उसको शरीर पर्याप्ति कहते हैं।

(ग) इंद्रिय पर्याप्ति–जिस कर्मशक्ति से शरीर ग्रहण करने पश्चात् जीव इंद्रियों के रूप में शरीर को परिणामन करता है उसको इंद्रिय पर्याप्ति कहते हैं।

(घ) श्वासो श्वास पर्याप्ति–जिस कर्मशक्ति से जीव श्वासो श्वास के पुद्गल ग्रहण कर श्वासो श्वास रूप में परिणमन करता है उसको श्वासो श्वास पर्याप्ति कहते हैं।

(च) भाषा पर्याप्ति–जिस कर्मशक्ति से जीव भाषा द्रव्य के पुद्गलों को ग्रहण कर भाषा रूप में परिणामन करता है उसको भाषा पर्याप्ति कहते हैं।

(छ) मनो पर्याप्ति–जिस कर्मशक्ति से जीव मनद्रव्य के पुद्गल ग्रहण कर मन रूप में परिणामन करता है उसको मनो-

पर्याप्ति कहते हैं।

इन छः पर्याप्ति का आरम्भ एकही समय में एकही साथ होता है प्रथम समय में आहार पर्याप्ति होती है पश्चात् अंतमुहूर्त में शरीर पर्याप्ति होती है

पश्चात् औदारिक शरीर वाला थोड़े २ अंतर से शेष ४ पर्याप्ति पूर्ण करता है वैक्रिय और आहारक शरीर वाले समय २ के अंतर में पूर्ण करते हैं इन में दो पर्याप्ति सूक्ष्म है जिससे उनके पूर्ण करने में काल अधिक होता है. जैसे सूत कातने वालों छः जनें को साथ आरम्भ कराया जावे तो मोटा कातने वाले प्रथम कूकड़ी पूरी करेंगे और सूक्ष्म (बारीक) कातने वाले अन्त में पूर्ण करेंगे.

६ अपर्याप्त नाम कर्म–जिस कर्म के उदय से कितनीक पर्याप्ति पूर्ण किये विना प्रथम ही जीव की मृत्यु होजावे उसको अपर्याप्त नाम कर्म कहते हैं।

पत्तेश्राण पत्ते, उदएणं अट्ठिमाइ थिरं। नाभु- वरि सिराइ सुहं सुभगाओ सव्वजण इट्ठो॥ ५०॥

७ प्रत्येक नाम कर्म–जिस कर्म के उदय से जीव को भिन्न (पृथक्) औदारिक शरीर प्राप्त होता है उसको प्रत्येक नाम कर्म कहते हैं।

२ सूक्ष्म, तेजस और कार्मण शरीर प्रत्येक जीवों को भिन्न २ अर्थात् पृथक् २ होते हैं किन्तु औदारिक शरीर निगोद के जीवों का तो अनंत जीवों का एक २ ही औदारिक शरीर होता है निगोद के सिवाय अन्य जीवों का औदारिक शरीर भी पृथक् अर्थात् भिन्न ही होता है।

६ साधारण नाम कर्म–जिस कर्म के उदय से निगोद का अभिन्न (अपृथक्) शरीर हो अर्थात् अनेक जीवों का एक ही शरीर हो उस शरीर में किसी जीव को शरीर प्राप्त हो उसको साधारण नाम कर्म कहते हैं।

वनस्पति काय के दो भेद होते हैं १ प्रत्येक वनस्पतिकाय और २ साधारण वनस्पतिकाय–प्रत्येक वनस्पति काय उन वनस्पतियों को कहते हैं जिनमें एक शरीर में एकही जीव होता हैं.

साधारण वनस्पति काय कंद मूल आलू कांदे लहशुन आदि जमीकंद को कहते हैं जिनमें अनंत जीवों का एक शरीर होता है इन जमीकंद के जीवों को निगोद के जीव कहते हैं यह शरीर साधारण नाम कर्म के उदय से प्राप्त होता है। इन जमीकंद को खाने में एक वनस्पति को खाने में अनंत जीवों की हिंसा होती है और अन्य वनस्पतियां केला आम आदि में एक वनस्पति खाने में एकही जीव की हिंसा होती है

अतएव मनुष्य को बुद्धि पूर्वक इनके भक्षण में विचार रखना चाहिये

९ स्थिर नाम कर्म–जिस कर्म के उदय से शरीर में हड्डियें दांत आदि स्थिर रहते हैं उसको स्थिर नाम कर्म कहते हैं.

१० अस्थिर नाम कर्म–जिस कर्म के उदय से शरीर में कान जीभ आदि अस्थिर रहते हैं उसको अस्थिर नाम कर्म कहते हैं.

प्रकृति के अविरोधी ध्रुव के उदय से ये दोनों साथ रहते हैं.

११ शुभ नाम कर्म–जिस कर्म के उदय से शरीर के नाभि से ऊपर के भागों का जैसे हस्तादि का दूसरे से स्पर्श होने पर उसको प्रीति उत्पन्न होती है किन्तु अप्रीति नहीं होती है उसको शुभ नाम कर्म कहते हैं.

१२ अशुभ नाम कर्म–जिस कर्म के उदय से नाभि के नीचे के भाग को जैसे पादादि का दूसरों से स्पर्श होने पर दूसरे उसको अपमान समझते हैं उसको अशुभ नाम कर्म कहते हैं. वे दोनों प्रकृति ध्रुवोदयी उदय अविरोधि की हैं.

१३ सौभाग्य नाम कर्म–जिस कर्म के उदय से जीव को दूसरों का उपकार न करने पर भी दूसरे उसको बहुमान देते हैं उससे प्रीति की इच्छा करते हैं सर्व को वो प्रिय होता है उसे कर्म को सौभाग्य नाम कर्म कहते हैं.

१४ दुर्भाग्य नाम कर्म–जिस कर्म के उदय से जीव को

दूसरों का उपकार करने पर भी दूसरे उससे द्वेष रखते हैं अपकार मानते हैं उसको दुर्भाग्य नाम कर्म कहते हैं.

सुसरा महुर सुहझुणी, आइज्झा सव्वलोश्र गिज्झवश्रो । जसश्रो जस कित्तीश्रो, थावर दसगं विवज्झत्थं ॥ ५१ ॥

१५ सुस्वर नाम कर्म-जिस कर्म के उदय से जीव का कंठ प्रिय और मधुर होता है उसको सुस्वर नाम कर्म कहते हैं. जैसे कोयल का मैना का मयूर इत्यादि का कंठ.

१६ दुस्वर नाम कर्म-जिस कर्म के उदय से जीव का कंठ अप्रिय होता है उसको दुस्वर नाम कर्म कहते हैं जैसे काग का ऊंट का लोमड़ी का.

आदेय नाम कर्म-जिस कर्म के उदय से जीव का वचन शुभ हितकारी समझा जाता है उसको आदेय नाम कर्म कहते हैं.

१८ अनादेय नाम कर्म-जिस कर्म के उदय से जीव का वचन शुभ हितकारी होते हुवे भी अशुभ अहितकारी समझा जाता है उसको अनादेय नाम कर्म कहते हैं.

१९ कीर्त्तियश नाम कर्म-जिस कर्म के उदय से जीव की कीर्त्तियश सर्वत्र फैलता है उसको कीर्त्तियश नाम कर्म कहते हैं.

२० अपयश नाम कर्म—जिस कर्म के उदय से जीव की निन्दा लोगों में होती है उसको अपयश नाम कर्म कहते हैं

कीर्ति उसको कहते हैं जो एक दिशा में प्रशंसा होती है और यश उसे कहते हैं जो सर्व दिशा में प्रशंसा होती है।

त्रस दशक और स्थावर दशक में इतना भेद है कि त्रस दशक पुन्य से होते हैं और स्थावर दशक पाप से होते हैं दोनो परस्पर विरुद्ध हैं जैसे शुभ और अशुभ—ऊपर दोनों त्रसदशक और स्थावर दशक का साथ ही वर्णन कर दिया है।

नाम कर्म समाप्त हुवा।

गोअं दुहुच्चनीअं, कुलाल इव सुघड भुंभलाईअं, विग्धं दाणे लाभे भोगुव भोगेसु वीरिए अ॥ ५० ॥

गोत्र कर्म के दो भेद।

जिस कर्म के उदय से जीव शुभा शुभ जाति कुल में उत्पन्न होता है उसको गोत्र कर्म कहते हैं उसके दो भेद हैं।

१ उच्च गोत्र कर्म—जिस कर्म के उदय से जीव उच्च लोकमान्य जाति कुल में जैसे क्षत्रिय काश्यपादि जाति; और उग्रादिक कुलमें उत्पन्न होता है उसको उच्चैर्गोत्र कर्म कहते हैं।

२ नीचगोत्र कर्म—जिस कर्म के उदय से जीव भिक्षुक,

कलाल आदि नीच जाति में उत्पन्न होता है उसको नीचगोत्र कर्म कहते हैं जैसे पवित्र जलादि के उपयोग के लिये जो मट्टी के घड़े कुंभकार वनाता है उनको लेजाकर लोग कलशादि की स्थापना करते हैं और उनपर अक्षत पुष्पादि चढाते हैं किन्तु जो घड़े मदिरा आदि के लिये वनाये जाते हैं उनमें मदिरा नहीं होते हुवे भी उनकी कोई पूजा नहीं करते हैं इस ही प्रकार उच्चजाति कुलमें उत्पन्न हुवे जीवों को तो वैसे ही सन्मान प्राप्त हो जाता है किन्तु नीच जाति कुल में उत्पन्न हुवे जीवों में बुद्धि लक्ष्मी आदि होते हुवे भी जाति कुल की अपेक्षा से उनका कम सन्मान होता है।

अंतराय कर्म के ५ भेद।

जिस कर्म के उदय से जीव के अपनी शक्तियों को उपयोग में लाने में अंतराय होती है उसको अन्तराय कर्म कहते हैं इसके ५ भेद हैं.

१ दानांतराय—जिस कर्म के उदय से जीव के पास उचित द्रव्य होते हुवे भी शुभ पात्र होते हुवे भी और देने की इच्छा होते हुवे भी दान नहीं कर सक्ता है उसको दानांतराय कर्म कहते हैं.

२ लाभांतराय कर्म—जिस कर्म के उदय से व्यापार कुशलता होते हुवे भी दाता का संयोग होते हुवे भी इच्छित वस्तु

भी दाता के पास होते हुवे भी कुछ लाभ प्राप्त न हो उसको लाभांतराय कर्म कहते हैं.

३ भोगांतराय कर्म—जिस कर्म के उदय से भोगकी वस्तुऐं भोगने का त्याग न होते हुवे भी न भोगी जासकें उसको भोगांतराय कर्म कहते है.

भोग की वस्तुऐं उन्हें कहते हैं जो केवल एकवार भोगी जा सक्ती है जैसे आहार जल पुष्पादि .

४ उप भोगांतराय कर्म—जिस कर्म के उदय से उपभोग की वस्तुओं के भोगने का त्याग न होते हुवे भी भोग न सके उसको उपभोगांतराय कर्म कहते हैं.

उपभोगकी वस्तुऐं उन्हें कहते हैं जो अधिकवार भोगी जा सकें जैसे पलंग कपड़ आदि.

५ वीर्यांतराय कर्म—इनके तीन भेद हैं ।

अ—बालवीर्यांतराय कर्म.

जिस कर्म के उदय से सांसारिक क्रिया में समर्थ होते हुवे भी इच्छित भोग न कर सके उसको बालवीर्यांतराय कर्म कहते हैं.

ब—पंडित वीर्यांतराय कर्म.

जिस कर्म के उदय से सम्यग्दृष्टि साधु होते हुवे भी मोक्षार्थ क्रियाऐं न कर सके उस कर्म को पंडित वीर्यांतराय कर्म कहते हैं.

क—बाल पंडित वीर्यांतराय कर्म जिस कर्म के उदय से देशविरति अर्थात् श्रावक धर्म पालन करने की इच्छा होते हुवे भी पालन न कर सके उसको बाल पंडित वीर्यांतराय कर्म कहते हैं.

सिरि हरिअ समं एअं, जह पडिकूलेण तेण रायाई, नकुणइ दाणाई अं, एवं विग्घेण जीवोवि ॥ ५२ ॥

जैसे कोषाध्यक्ष (खजानची) के देने पर ही राजा द्रव्य को दान कर सक्ता है. लाभार्थ द्रव्य उपयोग में ला सक्ता हैं द्रव्य का भोग उपभोग कर सक्ता है शक्ति का भोग कर सक्ता है किन्तु खजानची की अनुपस्थिती में, इच्छा होने पर भी राजा कुछ नहीं कर सक्ता इस ही प्रकार जीव अंतराय कर्म के कारण दान लाभ भोग उपभोग और वीर्य को उपयोग में नहीं ला सक्ता है.

कर्मों की ८ मूलप्रकृति की १५८ उत्तर प्रकृतियों की सूची.

८ कर्म की मूल प्रकृति ।

१ ज्ञानावरणीय कर्म
२ दर्शनावरणीय कर्म
३ वेदनीय कर्म
४ मोहनीय कर्म
५ आयुकर्म
६ नाम कर्म
७ गोत्र कर्म
८ अंतराय कर्म

५ ज्ञानवरणीय कर्म की उ० प्र० ।

१ मतिज्ञाना वरणीय	२ श्रुतज्ञाना वरणीय
३ अवधि ज्ञानावरणीय	४ मनःपर्यव ज्ञानावरणीय
५ केवल ज्ञानावरणीय	

९ दर्शनावरणीय कर्म की उ० प्र० ।

१ चक्षु दर्शनावरणीय	२ अचक्षु दर्शनावरणीय
३ अवधि दर्शना वरणीय	४ केवल दर्शनावरणीय
५ निद्रा	६ निद्रा निद्रा
७ प्रचला	८ प्रचला प्रचला
९ थीनर्द्धी	

२ वेदनीय कर्म की उ० प्र० ।

१ शातावेदनीय	२ अशातावेदनीय

२८ मोहनीय कर्म की उ० प्र० ।

१ सम्यक्त्व मोहनीय	२ मिश्र मोहनीय
३ मिथ्यात्व मोहनीय	४ अनंतानुबंधी क्रोध
५ अप्रत्याख्यान क्रोध	६ प्रत्याख्यान क्रोध
७ संज्वलन क्रोध	८ अनंतानुबंधीमान
९ अप्रत्याख्यान मान	१० प्रत्याख्यान मान
११ संज्वलन मान	१२ अनंतानुबंधी माया

१३ अप्रत्याख्यान माया — १४ प्रत्याख्यान माया
१५ संज्वलन माया — १६ अनंतानुबंधी लोभ
१७ अप्रत्याख्यान-लोभ — १८ प्रत्याख्यान लो .
१९ संज्वलन लोभ — २० हास्यनो कषाय
२१ रतिनो कषाय — २२ अरतिनो कषाय
२३ शोकनो कषाय — २४ भयनो कषाय
२५ जुगुप्सानो कषाय — २६ पुरुषवेदनो कषाय
२७ स्त्रीवेदनो कषाय — २८ नपुंसकवेदनो कषाय

४ आयु कर्म की ४ उ० प्र० ।

१ देवायु — २ मनुष्यायु
३ तिर्यंचायु — ४ नरकायु

१०३ नाम कर्म की उ० प्र० ।

१ नरकगति नाम कर्म — २ तिर्यंच गति नाम कर्म
३ मनुष्य गति नाम कर्म — ४ देवगति नाम कर्म
५ एकेंद्रिय जाति नाम कर्म — ६ बेंद्रिय जाति नाम कर्म
७ तेंद्रिय जाति नाम कर्म — ८ चतुरिंद्रिय जाति नाम कर्म
९ पंचेंद्रिय जाति नाम कर्म — १० औदारिक शरीर नाम कर्म
११ वैक्रिय शरीर नाम कर्म — १२ आहारक शरीर नाम कर्म
१३ तेजस शरीर नाम कर्म — १४ कार्मण शरीर नाम कर्म
१५ औदारिक अंगोपांग — १६ वैक्रिय अंगोपांग

१७ आहारक अंगोपांग १८ औदारिक औदारिक बंधन

१९ औदारिक तेजस बंधन २० औदारिक कार्मण बंधन

२१ औदारिक तेजस कार्मण बंधन २२ वैक्रिय वैक्रिय बंधन

२३ वैक्रिय तेजस बंधन २४ वैक्रिय कार्मण बंधन

२५ वैक्रिय तेजस कार्मण बं० २६ आहारक आहारक बंधन

२७ आहारक तेजस बंधन २८ आहारक कार्मण बंधन

२९ आ० ते० का० बंधन ३० तेजस तेजस बंधन

३१ तेजस कार्मण बंधन ३२ कार्मण कार्मण बंधन

३३ औदारिक संघातन ३४ वैक्रिय संघातन

३५ आहारक संघातन ३६ तेजस संघातन

३७ कार्मण संघातन ३८ वज्रऋषभ नाराच संघयण

३९ ऋषभ नाराच संघयण ४० नाराच संघयण

४१ अर्द्ध नाराच संघयण ४२ कीलिका संघयण

४३ छेवट्ट संहनन ४४ सम चतुरस्र संस्थान

४५ न्यग्रोध संस्थान ४६ सादि संस्थान

४७ वामन संस्थान ४८ कूब्ज संस्थान

४९ हुंड संस्थान ५० कृष्णवर्ण नाम कर्म

५१ नीलवर्ण नाम कर्म ५२ लोहितवर्ण नाम कर्म

५३ हारिद्र वर्ण नाम कर्म ५४ श्वेतवर्ण नाम कर्म

५५ सुरभि गंध ५६ दुरभिगंध

५७ तिक्तरस ना० क०
५८ कटुकरस नाम क०
५९ कषायल रस नाम कर्म
६० आम्लरस नाम कर्म
६१ मधुररस नाम कर्म
६२ कर्कश स्पर्श नाम कर्म
६३ मृदु स्पर्श नाम कर्म
६४ गुरुस्पर्श ना० क०
६५ लघु स्पर्श ना० क०
६६ शीतस्पर्श ना० क०
६७ उष्णस्पर्श ना० क०
६८ स्निग्धस्पर्श ना० क०
६९ रुक्ष स्पर्श ना० क०
७० नरकानुपूर्वी
७१ तिर्यंचानुपूर्वी
७२ मनुष्यानुपूर्वी
७३ देवानुपूर्वी
७४ शुभ विहाय गति
७५ अशुभ विहाय गति
७६ पराघात नाम कर्म
७७ उच्छ्वास ना० क०
७८ आतप ना० क०
७९ उद्योत ना० क०
८० अगुरुलघु ना० क०
८१ तीर्थंकर ना० क०
८२ निर्माण ना० क०
८३ उपघात ना० क०
८४ त्रस ना० क०
८५ वादर ना० क०
८६ पर्याप्त ना० क०
८७ प्रत्येक ना० क०
८८ स्थिर ना० क०
८९ शुभ ना० क०
९० सौभाग्य ना० क०
९१ सुस्वर नाम कर्म
९२ आदेय नाम कर्म
९३ यशः कीर्ति नाम कर्म
९४ स्थावर नाम कर्म
९५ सूक्ष्म नाम कर्म
९६ अपर्याप्त नाम कर्म

९७ साधारण नाम कर्म   ९८ अस्थिर नाम कर्म
९९ अशुभ नाम कर्म   १०० दुर्भाग्यनाम कर्म
१०१ दुस्वर नामकर्म   १०२ अनादेय नाम कर्म
१०३ अयशः अकीर्ति नाम कर्म

२ गोत्र कर्म की उ० प्र० ।

१ उच्चैर्गोत्र कर्म   २ नीचैर्गोत्र कर्म

५ अंतराय कर्म की उ० प्र० ।

१ दानांतराय   २ लाभांतराय
३ भोगांतराय   ४ उपभोगांतराय
५ वीर्यांतराय ।

इस प्रकार ८ कर्म की १५८ कर्म प्रकृति होती हैं.

बंध उदय–उदीरणा और सत्ता की अपेक्षा से ८ कर्मों की कर्म प्रकृति की सूची.

कर्म नाम	ज्ञा.	द	वे.	मो.	आ.	ना.	गो.	अं.	समग्र.
बंध प्रकृति	५	९	२	२६	४	६७	२	५	१२०
उदय	५	९	२	२८	४	६७	२	५	१२२
उदीरणा	५	९	२	२८	४	६७	२	५	१२२
सत्ता	५	९	२	२८	४	१०३ ९३	२	५	१५८ १४८

आठ कर्म प्रकृतियों के बंधन के स्थूल कारण.

पडिणी अत्तण निन्हव, उवघाय पश्रोस अंतराएणं । अच्चासायण याए, आवरण दुगंजिओ जयई ॥ ५४ ॥

कर्म बंधन के मुख्य कारण ४ होते है मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग ।

इन का वर्णन चतुर्थ कर्मग्रन्थ में विस्तार से करेंगे किन्तु यहां पर भी मुख्य २ कारणों को संक्षेप से बतलाते हैं ।

ज्ञाना वरणीय और दर्शना वरणीय कर्म बंधन के मुख्य कारण ।

ज्ञानी साधु, श्रावक, धर्मोपदेशक लौकिक विद्यागुरू और ज्ञान उपकरण पुस्तक पट्टी आदिका अविनय करने से, विद्या गुरू का नाम बदलने से, ज्ञानी और ज्ञान उपकरण से द्वेष करने से अरुचि करने से विद्यार्थी (पढने वाले) को भोजन पान में, आवश्यकीय स्थानादि के प्रयत्न में बाधा पहुंचाने से, विद्यार्थी को अन्य कार्य में लगा पढने में विघ्न करने से, विद्यार्थियों को खेदोत्पादक वचन कहने से अकाल में स्वाध्याय करने से, योग उपधान अर्थात् सूत्रादि पढते समय यथोचित् तपस्या न करने से, वर्जित दिवस को स्वध्याय करने से, ज्ञान उपकरण सहित लघुशंका वा दीर्घ शंका वा काम चेष्टा करने से ज्ञान उपकरण को पैर का स्पर्श करने से वा थूक, श्लेष्य

आदि का स्पर्श करने से, ज्ञान द्रव्य भक्षण करने से वा विनाश करने से अथवा भक्षण करने वाले और विनाश करने वालों की उपेक्षा करने से ज्ञाना वरणीय कर्मों का बंधन होता है।

उपरोक्त कारणों ही से दर्शनावरणीय कर्मों का बंधन होता है किन्तु विशेषता यह होती है कि ज्ञानियों और विद्यार्थियों की इंद्रियों के सदुपयोग में विघ्न करने से वा विनाश का प्रयत्न करने से, और तत्वज्ञान के ग्रन्थों पर द्वेषभाव करने से भी दर्शना वरणीय कर्मों का बंधन होता है।

गुरुभत्तिखंति करुणा, वयजोग कसाय विजय दाणजुओ ॥ दढ धम्माइ अज्झइ, सायमसायं विवज्झयओ ॥ ५५ ॥

वेदनीय कर्म बंधन के मुख्य कारण।

गुरु अर्थात् धर्माचार्य, विद्यागुरु, माता पिता वा बड़े भाई अपने से अधिक आयु, विद्या, और बुद्धि वालों की सेवा करने से क्षमा भाव रखने से दयामय स्वभाव रखने से, महाव्रत (साधु व्रत) अणुव्रत (श्रावक व्रत) पालन करने से, दश विधि साधु समाचारी (आचारादि) पालन करने से, कषायों का जय करने से, यथाशक्ति दान करने से धर्म में स्थिरता रखने से और कोमल परिणाम से शाता वेदनीय कर्मों का बंधन होता है.

उपरोक्त (शाता वेदनीय के) गुणों से विरुद्ध वर्त्ताव करने से, कठोर प्रकृति रखने से, निर्दय स्वभाव रखने से, और अन्य प्राणियों को दुख देने आदि से अशाता वेदनीय कर्मों का बंधन होता है.

व्यवहार में इनको पुण्य पाप कहते हैं पापों का फल दुःख मिलता है और पुण्य का फल सुख मिलता है.

उमग्ग देसणामग्ग, नासणा देव दव्व हरणेहिं दंसण मोहं जिण मुणि, चेइअ संघाइ पडिणीओ ॥ ५६ ॥

मोहनीय कर्म बंधन के मुख्य कारण।

अनजान से वा जानकर वा कदाग्रह से एकांत पक्ष लेकर भोले जीवों को धर्म से भ्रष्ट करने से, कुधर्म रूपी कुमार्ग बतला जीवों को भ्रम में डालने से, सम्यग्दर्शी चारित्रधारी ज्ञानी पुरुषों की निन्दा करने से, देवद्रव्य भक्षण करने से देवद्रव्य में हानि पहुंचाने से वा दुरुपयोग करने से वा देव, गुरु, धर्म की निंदा करने आदि से मिथ्यात्व मोहनीय कर्म का बंधन होता है.

साधु, साध्वी, श्रावक श्राविकादि से शत्रुता करने से इन से द्वेष करने से धर्म की निंदा, अपकीर्त्ति करने कराने से दर्शन मोहनीय कर्मों का बंधन होता है.

गादि का स्पर्श करचरणमोहं, कसाय हासाइ विसय विवस मणो। बंधइ निरयाउ महारंभ परिग्गह रओ रुद्दो ॥ ५७ ॥

कषायों से, हास्यादि से, और ५ इंद्रियों के विषयों में लीन होने से २ प्रकार के चारित्र मोहनीय कर्मों का बंधन होता है.

अनंतानुबंधी कषायों से सोलह, अप्रत्याख्यानी कषायों से बारह, प्रत्याख्यानी कषायों से आठ, और संज्वलन कषायों से चार, प्रकार के मोहनीय कर्मों का बंधन होता है.

हास्यादि कुचेष्टा से हास्य मोहनीय कर्मों का बंधन होता है.

विचित्र क्रीडाऐं देखने से क्रीडा रस के वचन बोलने से दूसरों को वश में करने को कुमंत्र पढ़ने से कुकृत्यों से रति मोहनीय कर्म का बंधन होता है.

परस्पर क्लेश कराकर झगडा कराने से अरति मोहनीय कर्म का बंधन होता है.

अन्य जीवों को भय दिखलाने से निर्दय परिणामों के कारण भय परिणामी कर्मों का बंधन होता है.

असत्य कहकर जीवों को शोक चिंता में डालने से शोक मोहनीय कर्मों का बंधन होता है.

धार्मिक पुरुषों की दुगंछा करने से वा निंदा करने से जुगुप्सा मोहनीय कर्मों का बंधन होता है.

शब्द, रूप, रस, गंध और स्पर्श अनुकूल देखकर आसक्त होने से ईर्ष्या करने से कपट करने से असत्य कहने से पर स्त्री गमन करने से स्त्री वेद कर्मों का बंधन होता है.

सरल परिणाम से, स्वदारा संतोष से, ईर्षा त्याग से, मंद कषायों से, पुरुष वेद कर्मोंका बंधन होता है.

तीव्र कषायों से, दूसरों का ब्रह्मचर्य खंडन कराने से, तीव्र विषय अभिलाषाओं से, पशुओं के हनन से, चारित्र धारी पुरुषों को असत्य दोषादि देने से, असाधुओं को साधु कहने से नपुंसक वेद कर्मों का बंधन होता है.

आयु कर्मबंधन के मुख्य कारण।

चक्रवर्ती राजा की ऋद्धि में लीन होकर अधर्म करने से अनेक जीवों को कष्ट पहुंचाने से, हत्या करने से, अविरति होने से दुष्टपरिणामी होने से मद्यमांसादि भक्षण आदि सप्तव्यसन से, और कृतघ्न, विश्वास घातक, मित्रद्रोही आदि होने से और अधर्म प्रशंसक होने से नरक आयु कर्मों का बंधन होता है.

तिरिआओ गूढहिअओ, सढो ससल्लो तहा मणुस्साओ। पयईअ तणु कसाओ, दाण रूई मज्झिम गुणोअ ॥ ५८ ॥

गूढ हृदय की शठता से ऊपर से मधुर भीतर की भयंकरता

से, असत्य दोष आरोपित करने से आर्त्तध्यान करने से पापों का प्रायश्चित न करने से मनमें शल्य रखने से तीव्रमोह से तिर्यंच आयु कर्मों का बंधन होता है.

अल्प कषाय दानरुचि, क्षमा, सरलता, निर्लोभता, निष्कपट आदि उत्तम गुणों से और सद्गुरु से सद्बोध पाने से मनुष्य आयु कर्मों का बंधन होता है.

धर्म प्रेमी होने से धर्म सहायक होने से बाल तपस्वी होने से देशविरति अर्थात् श्रावक धर्म पालन करने से और सराग संयमी चारित्र पालने से देव आयु का बंधन होता है.

अ—अकाम निर्जरा से अग्नि में जलते समय वा कुए तालाव में गिरकर मरते समय शुभ भावना रहने से व्यंतरादि देव आयु बंधन होता है.

ब—बाल तप में क्रोधादि परिणाम रखने से, मिथ्यात्वावस्था में तप करने से इंद्रियों को वश में रखते हुवे भी मनमें संसार वासना रहने से भुवनपति देव आयु बंधन होता है.

क—धर्म क्रियाएँ करते हुवे भी धर्माचार्य से द्वेष रखने से किलविशिक (महतर) देव आयु का बंधन होता है.

अत्युत्तम चारित्र (सर्व विरति धर्म) पालन करने से वैमानिक और ज्योतिषी देवायु का बंधन होता है.

युगलिक अविरति होते हुवे भी उन में तीव्र कामोदय न

होने के कारण और परदारा गमन आदि व्यसनों से अरक्त होने आदि अनेक कारणों से युगलिकों को देवायु ही बंधन होता है.

शुद्ध ब्रह्मचर्यादि पालन से मिथ्यात्वी को भी देवायु बंधन होता है.

नाम कर्म के बंधन के मुख्य कारण.

निष्कपट, सत्य प्रियता (सच्चा माप और तोल रक्खा) ऋद्धि, रस, शाता इन ३ गौरवों से रहित, पापभीरु, परोपकारी लोक प्रिय और क्षमादि गुण युक्त होने से शुभ नाम कर्मों का बंधन होता है.

अप्रमत्त चारित्र पालन करने से आहारकद्विक नाम कर्मों का बंधन होता है.

अरिहंतादि २० पदों को शास्त्रानुसार यथाविधि आराधन करने से तीर्थंकर नाम कर्म का बंधन होता है.

उपरोक्त गुणों से विरुद्ध अवगुणों से ३४ अशुभ नाम कर्मों का बंधन होता है कुल ६७ प्रकृति का बंध बताया.

गुणपेही मय रहिओ, अज्झयणज्झा । वणारुइ निच्चं ॥ पकुणइ जिणाइ भत्तो, उच्चंनिअं ई अ-रहाओ ॥ ५६ ॥

गोत्र कर्म बंधन के मुख्य कारण ।

गुणप्रेक्षी होना ज्ञान, दर्शन और चारित्रादि गुण जितने अपने में होवे उतने ही प्रगट करना अथवा औरों को बतलाना किसी के अवगुण देखकर निंदा न करना, अपने जाति, कुल बल, रूप, श्रुत, ऐश्वर्य, लाभ और तप इन आठ संपदाओं से युक्त होते हुवे भी इनका मद नहीं करना, सूत्र पढना पढाना, अर्थ की रुचिकरना कराना बाल जीवों को धर्म में प्रवृत्त करना तीर्थंकर प्रवचन संघ आदि का बहुमान (हार्दिक सत्कार) करना आदि उत्तम गुणों से उच्चगोत्र कर्म का बंधन होता है.

उपरोक्त गुणों से विपरीत अवगुणों से नीच गोत्र कर्म का बंधन होता है.

जिणपूआ विग्धकरो, हिंसाइ परायणो जयइ विग्धं, इय कम्मविवागोअं, लिहिओ देविंद-सूरीहिं ॥ ६० ॥

श्रीजिनेंद्र भगवान की पूजा का निषेध करना, पूजा में जल कुसुमादि के उपयोग को हिंसामय बतलाना, पूजा में किसी को विघ्न पहुंचाना, पूजा से किसी को रोकना, पूजा की निंदा करना आदि से अंतराय कर्म का बंधन होता है.

श्रीजिनेंद्र भगवान पर और उनके वचनों पर दृढ श्रद्धा करने के लिये वीतराग भगवान की पूजा की परम आवश्यक्ता है.

प्रत्येक गृहस्थी को अष्ट द्रव्य से नित्य प्रभु की पूजा करना चाहिये प्रभु पूजादि शुभ कार्यों में अष्ट द्रव्यादि के उपयोग से अशुभ कर्म बंधन नहीं होता है किंतु शुभ कर्मोपार्जन होता है जैसे कि औषध कटु हो तो भी उपयोग का फल शुभ होता है.

जितने समय पर्यंत गृहस्थ संबंधी कार्यों का त्याग कर प्रभु पूजा प्रभु गुण ग्राम आदि में समय का सदुपयोग किया जाता है उतना ही अंतराय कर्मों का नाश होता है और सम्यक्ज्ञान सम्यक् दर्शन और सम्यक् चारित्र की प्राप्ति होती है। किंतु यदि कोई गृहस्थ सर्व द्रव्यों का त्याग कर साधु धर्म अंगीकार करले तो यद्यपि वो द्रव्यादि के त्यागी होने से प्रभु की द्रव्य पूजा का अधिकारी नहीं है तथापि उसके लिये भाव पूजा परम आवश्यकीय है.

इस कर्म विपाक नाम प्रथम कर्म ग्रन्थ की श्रीमान् देवेंद्र-सूरि महाराज ने रचना की है.

कर्म विपाक नाम प्रथम कर्म ग्रन्थ समाप्त ।

जीयाद्वीरजिनेश्वरो गुणनिधिः कर्मस्वरूपो वदद् ।
देवेंद्रो मुनिनायको, वरमतिर्गाथाप्रणेता तथा ॥
मान्यो मोहन साधुरथ, कथनः पन्यास हर्षो मुनि ।
माणिक्य नयतात्सदैव सुपथानृणांहिते चिंतनात् ॥